यहाँ पहिले सुधा और विषकी उपमा दी फिर पारस और गुंजाकी। सुधा और विष पान करनेवालेको ही लाभ या हानि पहुँचाते हैं, मोक्ष वा बन्धन इसी तरह व्यक्तिपर ही अपना प्रभाव डालते हैं। परलोक सँवारनेमें अपनेको और दूसरेको भी सँवारनेका भाव है। साधुजन अपनेको भी सँवारते हैं और दूसरोंको भी। पारस तो सोनेसे ज्यादा मूल्यका स्वयं है और कुधातुओंको सोना बना देता है, उसी तरह साधुजन आप अपना सुधार करते हैं और दूसरोंको भी सुधार देते हैं। वह अनमोल हैं और दूसरोंको अतुलित मूल्यका बना देते हैं। विषयभोगमें फँसे असाधु गुंजाकी तरह अपनी कोई कीमत नहीं रखते और दूसरे जो उनकी तुलनामें आते हैं उनकी कीमत भी सीमित हो जाती है। ऐसोंको कोई भी भला न कहेगा।

रा० शं० श०—'*नर तन पाइ*.......।' एक चौपाईमें सुधाकी उपमा दी, दूसरीमें पारसकी। इससे यह दिखाया कि सुधासे शरीरकी तुष्टि-पुष्टि होती है, यथा—'*स्वाद तोष सम सुगति सुधा के*' और पारसमणिसे शरीरके उपयोगी पदार्थोंकी सुलभता और शोभा होती है, इसी तरह भजनसे शरीर और आत्मा दोनोंको सुख-संतोष और इस सुख-संतोषकी सामग्री प्राप्त होती है, विषयसे इन दोनोंकी हानि है।

बाबा जयरामदास दीन—प्रयोजन तो एक ही उपमासे सिद्ध हो सकता था, दो उपमाएँ क्यों दीं? उत्तर—इसमें भी गूढ़ रहस्य है। यह उपदेश जीवमात्रके लिये हो रहा है और मानवसमाजमें समीचीन मार्ग सदासे दो श्रेणियोंमें विभक्त है—एक गृहस्थ-समाजका प्रवृत्तिमार्ग, दूसरा विरक्त-समाजका निवृत्तिमार्ग। इस समाजमें दोनों ही समाज विराजमान हैं। '*पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं*' यह प्रवृत्तिमार्गियोंके लिये कहा गया है और '*नर तन पाइ बिषय मन देहीं*' से यह स्पष्ट किया जा रहा है कि प्रवृत्तिमार्गपर चलते हुए लोगोंके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है तथा असम्भव-सा भी है। अत: केवल मनसे ही उनका त्याग करना चाहिये, जो सम्भव भी है। तात्पर्य कि प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थाश्रमियोंको दृढ़ निष्ठाके साथ यह निश्चय कर रखना चाहिये कि हम, हमारा सारा परिवार, धन, जन आदि सब कुछ, यहाँतक कि यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का ही है और हम भगवान्‌की आज्ञासे यहाँ सबके साथ उचित व्यवहार करनेके लिये मैनेजर या सेवक नियुक्त किये गये हैं। जिस प्रकार हमारे पूर्वज अपनी-अपनी आयु पूरी करके चले गये, वैसे ही हम भी अपना पहरा पूरा करके इनसे अलग हो जायँगे। इसलिये कोई भी हमारे नहीं हैं, सब भगवान्‌के हैं।

अस्तु, श्रीरघुनाथजी महाराजका यही कहना हो रहा है कि जो प्रवृत्तिमार्गी उपर्युक्त भावानुसार कुछ भी अपना न मानकर तथा अपने मनको भगवान्‌में लगाकर निष्कामभावसे भगवदर्पणबुद्धिसे व्यवहार करता है, वह मानो अमृतप्राप्त मनुष्य देहीके सुयोगको सफल बनाकर अमृतत्वरूप मोक्षकी प्राप्तिका अधिकारी होता है। परंतु जो इस भावके प्रतिकूल आचरण करते हैं, सबको अपना मानकर अपनेको सबका कर्ता-भोक्ता निश्चित करके विषयासक्त मनसे विषयोंमें ही रमे रहते हैं, वे शठ हैं, तथा अमृतरूप नरतनके सुयोगको नष्ट करके विषयरूपी विषको ग्रहण कर रहे हैं।

'*गुंजा ग्रहै परसमनि खोई*' यह उपमा निवृत्तिमार्गियोंके लिये है, जिन्होंने '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' सूत्रानुसार पूर्वमीमांसादि समस्त कर्मोंका स्वरूपत: त्याग करके संन्यास ले लिया है अर्थात् जो चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट होकर काषायवेष धारण कर चुके हैं, वे जिस कर्मका न्यास कर चुके हैं यदि उन्हींमें वे पुन: प्रवृत्त होते हैं तो मानो वे पारसमणिको फेंककर गुंजा ग्रहण कर रहे हैं। देखिये इस उपमामें '*ग्रहइ*' शब्दका प्रयोग करके कर्मेन्द्रिय (हाथ) की ही क्रिया 'ग्रहण' द्वारा संन्यासियोंके कर्मको लक्षित कराया गया है।

एक बात और भी नोट करने योग्य है। प्रवृत्तिमार्गियोंकी चूकपर उन्हें 'शठ' कहा गया है, परन्तु विरक्त-वेषकी मर्यादा रखनेके लिये उनकी बड़ी चूकपर भी ऐसी कोई बात नहीं कही गयी, बल्कि बड़े नम्र शब्दोंमें इतना ही कहा गया कि उनको कोई भला न कहेगा।

आकर चारि लच्छ* चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ ४॥

* लक्ष—भा० दा०। लच्छ—का०। प्राचीन पोथियोंमें 'च्छ' की जगह प्राय: सर्वत्र 'छ' है।

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥५॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥६॥

अर्थ—चारि खानि और ८४ लक्ष योनियोंमें यह अविनाशी जीव चक्कर खाता रहता है॥ ४॥ मायाकी प्रेरणासे काल, कर्म, गुण और स्वभावसे घेरा (उनके घेरेमें पड़ा) हुआ सदा फिरता रहता है॥ ५॥ ईश्वर कभी करुणा करके मनुष्य-शरीर दे देते हैं; क्योंकि वे बिना कारण ही स्नेह करनेवाले हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'आकर चारि लच्छ चौरासी.......'* इति। (क) जीवोंके उत्पन्न होनेकी खानि चार हैं—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज। **'अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मसकादयः। उद्भिज्जा वृक्षगुल्माद्या मानुषाद्या जरायुजाः॥'** (प० पु० शिवगीता) विशेष *'आकर चारि लाख चौरासी।.......'* (१। ८। १) में देखिये। (ख) *'यह जिव'* अर्थात् जो सुधा त्यागकर विष लेता है और पारस खोकर गुंजा लेता है वह ८४ लक्ष योनियोंमें भटकता फिरता है। (ग) *'जिव अबिनासी'* इति। भाव कि जीव अविनाशी है। शरीरका नाश होता है पर शरीरके जन्म और विनाशका क्लेश जीवको होता है, यथा—*'जनमत मरत दुसह दुख होई।'* (१०९। ७)

२ (क) *'फिरत सदा माया कर प्रेरा'* इति। तात्पर्य कि काल, कर्म, गुण, स्वभाव और माया ही सब जीवोंसे निकम्मे काम कराते हैं—दोहा २१ देखिये। इसीसे जीव ८४ लक्ष योनियोंमें पड़ता है। [यथा—*'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'* (१३ छन्द २ वेदस्तुति) पुनः *'काल कर्म.......घेरा'* का भाव कि ये मायाके सिपाही हैं, जीवको अपने घेरेमें रखे हैं। (रा० प्र०)]

पं०—*'कबहुँक करि करुना'* इति।—'कभी कृपा करके', इस कथनसे यह न समझना कि ईश्वर करुणारहित हैं; क्योंकि उपासकोंकी रीति है कि जब अपना शुभ होता है तब वे उसे ईश्वरकी ही कृपा समझते हैं, यथा—*'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा.......।'* वैसे ही यहाँ कहते हैं।

नोट—१ *'कबहुँक'* से यह जनाया कि करुणा आनेपर नरशरीर देते हैं, यह जरूरी नहीं है कि अमुक किसी खास योनिपर पहुँचनेपर ही नरशरीर देते हों। करुणा कब हो जाय यह निश्चय नहीं। चौरासी भोगके बीचहीमें कृपा कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव अपने कर्मसे कभी मनुष्य-शरीर पानेका अधिकारी नहीं हो सकता, यथा पञ्चरात्रे—**'जीवे दुःखाकुले तस्य कृपा काप्युपजायते'** अर्थात् जीवको व्याकुल देखकर ईश्वर कृपा करके कभी मनुष्य-शरीर दे देते हैं।

२ गीता ९। ४-५ में जो भगवान्‌ने कहा है कि 'सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। मैं भूतोंका धारण करनेवाला हूँ पर भूतोंमें स्थित नहीं हूँ, मेरा मन भूतभावन है।' यथा—**'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥'.......भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥'** उसका अभिप्राय भी यही है कि मेरी स्थितिमें उनके द्वारा कोई उपकार नहीं है। मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ, उनसे मेरा कुछ भी उपकार नहीं है। मेरा मनोमय संकल्प ही भूतोंको उत्पन्न, धारण और नियमन करनेवाला है।—जीव कोई उपकार कर नहीं सकता, वह तो नियाम्य है, अतः भगवान्‌को *'बिनु हेतु सनेही'* कहा। *'बिनु हेतु सनेही'*, यथा—*'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु'* (वि० १९१), *'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं।'* (वि० १३६), *'बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा।'* (वि० १३५), *'सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु।'* (वि० १९०), *'रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥'* (२। ७४। ६)

वि० त्रि०—अन्य शरीरोंसे काल-कर्म-स्वभाव गुणके घेराका टूटना सम्भव नहीं, क्योंकि अन्य शरीरोंसे केवल पाप-पुण्यका भोगमात्र होता है, उससे भव-संतरण नहीं हो सकता। अनन्तराशि संचित कर्मोंकी पड़ी हुई है, अनन्तकालतक भोगते रहनेपर भी समाप्त होनेकी नहीं और नर-शरीरसे अन्यमें किसी पुरुषार्थका सामर्थ्य नहीं, अतः सरकारके छोह बिना निस्तारका उपायान्तर नहीं। (यथा—*'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेइ छोहा॥'*) वे ही निष्कारण कृपा करनेवाले यदि छोह करके नर-शरीर दें, तो पुरुषार्थ

करनेका सुअवसर मिले। भावार्थ यह कि जिन्हें नरशरीर प्राप्त हो गया, उनपर समझना चाहिये कि सरकारकी कृपा हो गयी, वे इस अवसरको न चूकें, तुरंत पुरुषार्थमें दत्तचित्त हों।

नोट—*'बिनु हेतु सनेही'*, यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* इस कथनका भाव यह है कि ऐसा न होता तो ८४ में भ्रमण करते समय इससे कौन सुकृत बन पड़ा, जिससे भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया (पं० रा० कु०)। (*'बिनु हेतु सनेही'* अर्थात् ये *'स्वारथरहित सखा सब ही के'* हैं, और सब लोग स्वार्थ रखकर स्नेह करते हैं। (रा० प्र०)]

यहाँ जीव, माया और ईश्वर तीनोंको कहनेसे विशिष्टाद्वैत सिद्ध हुआ *'जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी'*, यहाँ जीव कहा। *'फिरत सदा माया कर प्रेरा'* यहाँ माया कही। और *'देत ईस बिनु हेतु सनेही'* यहाँ ईश्वर कहा।

गौड़जी—*'आकर चारि लच्छ चौरासी।'''''''सनेही'* इति।—अब यहाँसे नरदेहीका महत्त्व दिखाते हैं कि क्यों यह देही साधन-धाम है और इसे सुधा और स्पर्शमणि क्यों समझें। हिंदूशास्त्रोंमें ह्रास और विकास दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज और अण्डजसे जरायुजका विकास होता है। जरायुजका सबसे अधिक विकसित प्राणी मनुष्य है। मनुष्यसे भी अधिक विकास करके देव, ऋषि आदि योनियोंमें जीव पहुँच जाता है पर ये न तो चार आकरोंमें हैं न ८४ लक्षमें। यह अविनाशी जीव चार खानियोंमें होकर ८४ लक्ष योनियोंमें विचरण करता है। यह कैसे और कितने दिनोंमें विचरण करता है यह बात व्यक्त करनेके लिये *'कबहुँक'* शब्द दिया है। अनन्तकोटि विश्व है और प्रत्येक विश्वमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें संख्यातीत शरीर हैं और प्रत्येक शरीरमें संख्यातीत जीवाणु हैं। सृष्टिमें चराचरमें दो-दो विभाग हैं, जड़ और चैतन्य। जीवनके हिसाबसे जड़ अव्यक्त है और चेतन व्यक्त है। व्यक्त-चेतनमें जो चार आकर बताये गये हैं उनमें सब मिलाकर ८४ लाख जातिकी योनियाँ हैं। प्रत्येक योनिमें संख्यातीत प्राणी हो सकते हैं। इस तरह प्रत्येक क्षणमें किसी विश्वके किसी ब्रह्माण्डमें किसी पिण्डका महाप्रलय होता रहता है। किसी ब्रह्माण्डका अंत होता रहता है, किसी विश्वका जन्म होता है, किसी नये ब्रह्माण्डकी रचना होती रहती है, ८४ लाखका चक्कर एक पृथिवीके लिये ही बड़ा विशाल चक्कर है। जड़ खनिजसे जीवका विकास बहुत कालमें होता है तब कहीं आदिम जीवाणुका रूप प्रकट होता है। वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इसमें एक अरब वर्ष लगता है। और प्रथम जीवाणुकी उत्पत्ति और विकाससे लेकर मनुष्ययोनिके विकासतक १$\frac{३}{४}$ अरब वर्षके लगभग लगते हैं। वैदिक काल परिमाणसे जब कि नर-सृष्टिका प्रारम्भ हुआ अर्थात् स्वायम्भू मनुसे अबतक एक अरब ९८ करोड़ वर्षोंसे भी अधिक होते हैं, यह तो इस पृथ्वीका क्रम है। और ब्रह्माण्डोंमें इससे अधिक या कम समय भी लग सकता है, अभी यह सातवाँ मन्वन्तर है अर्थात् कल्पका आधा भी नहीं गुजर पाया है। अब सोचना चाहिये कि जीव ८४ लक्ष योनियोंमें घूमता हुआ जो नरदेहीमें आया है तो कम-से-कम १$\frac{३}{४}$ अरब वर्षोंमें पहुँचा है, यदि अपने बुरे कर्मोंसे इसका पतन हो जाय और आसुरी सम्पदाके कारण **'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'** आसुरी योनियोंमें होते हुए फिर पौधोंमें पहुँचते-पहुँचते दो अरब वर्ष लगे तो कुल चार अरब वर्षोंका चक्कर हो गया। कल्पान्त भी लगभग इतने ही समयमें होता है। अत: ऐसे पतितका फिर कल्पादिमें विकास आरम्भ हो तो नरदेहीतक पहुँचते-पहुँचते और सवा अरब वर्षतक लग सकते हैं। इस तरह यदि कोई ऐसी अध:पतनवाली चूक कर गया तो ५ अरब वर्षोंके लिये पाँच अरब वर्षोंका चक्कर और भी लम्बा हो सकता है। काल, कर्म, गुण और स्वभाव बीच-बीचमें उसके उत्थानमें रुकावट डाल सकते हैं। मान लें कि जीव ठीक उस समय पशुयोनिमें वनस्पतिमें पतित हो रहा है और उसी समय युगान्त वा मन्वन्तरान्तकी प्रलय हो गयी, जो जबतक संध्याकाल है तबतक वह उसी पतनकी अवस्थामें तमोगुणी प्रकृतिके गर्भमें पड़ा सोता रहेगा। इस तरह उसके पतनका काल बहुत लम्बा हो गया, क्योंकि विकासका आरम्भ तो सृष्टिके आदिमें ही हुआ करता है। यह कालद्वारा घेरे जानेका उदाहरण हुआ।

प्रारब्ध कर्म सभी योनियोंमें चलता है और वही निमित्त वा परिस्थितिकी रचना करता है। किसी पौधेको परिस्थिति ऐसे थलमें ले गयी जहाँ वह दीर्घजीवी हो गया और बहुत कालतक पौधेकी ही एक-एक योनिमें विचरता रहा। कर्मने उसके विकासके वेगको अत्यन्त शिथिल कर दिया। अथवा, परिस्थितिने उसे कम विकसित योनियोंमें डाल दिया। इस तरह कर्मसे घिरकर चक्कर खाता रहा।

स्वभाव भी जीवको आगे बढ़नेमें बाधा पहुँचाता है। अनेक योनियाँ इस तरहकी हैं जो काल और परिस्थितिको देखकर शरीरको सुषुप्त अथवा स्तब्ध अवस्थामें हजारों वर्षतक सुरक्षित रखती हैं और फिर जब शरीरका नाश होता है तब भी अनेक योनियाँ ऐसी हैं कि दूसरे शरीर तुरंत ही रचकर संततिकी रक्षा करती हैं। इस तरह जीवको प्रकृति या स्वभावके चक्करमें फँसे रहना होता है।

गुण तीन हैं—'सत्त्व, रज और तम। नीचेकी योनियोंमें तमोगुणकी प्रधानता है। इसलिये नीचेकी योनियोंमें एक तरहका स्थानत्व है जिससे कि अवस्थाके परिवर्तनकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। प्रमाद, आलस्य, निद्रा सभी तमोगुण हैं। गतिका अभाव तमोगुणकी प्रधानता है, इसीलिये वनस्पतियोंकी योनितक विकासमें बहुत काल लगता है। आज भी एक-एक पेड़ चार-चार, पाँच-पाँच हजार वर्षके मौजूद हैं। इस तरह गुणोंसे घिरकर भी जीवका विकास रुक जाता है। सत्त्वगुणको ही लीजिये। सत्त्वकी प्रधानतासे कोई इन्द्रपदतक पहुँचा और उसे इस पदपर ७१ हजार चतुर्युगीसे अधिक रहना पड़ा। सत्त्वगुणके कारण उसको मानव-शरीर मिलनेमें एक मन्वन्तरकी देरी हो गयी। इन्द्रपद पाकर भी पतन होनेके कारण नहुष कहाँ-से-कहाँ जा गिरे! और, उनके विकासमें कितनी रुकावटें हो गयीं! काल, कर्म, स्वभाव और गुण, इन चारोंके द्वारा माया जीवको चक्करमें घुमाती रहती है और इस चक्करसे छुटकारा पाना असम्भव-सा दीखता है। इसी भयसे आश्वासन देनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**', '**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत**' इत्यादि। पशुयोनिसे मनुष्ययोनितक आनेका रास्ता अत्यन्त लम्बा है, और दूसरी योनियोंकी अपेक्षा बहुत समय लेता है। आधुनिक विकासवादके अनुसार तो इस ऊँचाईतक पहुँचनेके लिये इसके बिलकुल पासकी दो-तीन सीढ़ियाँ टूटी हुई हैं। यदि भगवदनुग्रह हो तभी इस व्यवधानको पार करके मनुष्यपदकी ऊँचाईपर जीव पशुयोनिसे पहुँच सकता है—यही भगवत्की करुणा है। जीवने कभी भूलसे भी भगवान्का स्मरण किया है, या उसे सौभाग्यसे किसी हरिजनका एक क्षणमात्रका भी सत्सङ्ग मिल गया है अथवा परमार्थ कोटिका अत्यन्त अल्प भी पुण्य उसके खाते लिख गया है जिससे कि भगवान्की करुणाका, कृपाका सम्बन्ध हो चुका है तो उस पुण्यकर्मके कर्मोंके मिट जानेपर भी भगवत्करुणा उसे बीचमें ही उबार लेती है। यद्यपि वह इस समय जड़ता और नास्तिकतामें शराबोर है और कृपा या करुणाका कदापि पात्र हो नहीं सकता। बात यह होती है कि जीव अधोगतिसे घबड़ा उठता है और प्रकृतिके कठोर नियमके कारण अपने उद्धारके लिये कोई उपाय नहीं कर सकता। इस आत्यन्तिक विकलताके समय करुणाकरका आसन डोल जाता है और जिसके अपकर्मोंपर लगातार अधःपतन कराया गया है उसकी अति विकलतापर दयार्द्र हो सारी विघ्न-बाधाओंको दूरकर पशु और मनुष्ययोनिके बीचकी भयंकर खाईको डकाकर भगवान् मनुष्ययोनिमें जन्म दे देते हैं। *'बिनु हेतु सनेही'* इसीलिये कहा कि जीव बराबर भगवान्से विमुख रहा है, अतः स्नेह करनेका कोई हेतु नहीं था। यहाँ *'ईस'* कहा। तात्पर्य यह कि यह करुणा भगवान् शंकरकी ओरसे होती है, उन्हींमें यह सामर्थ्य है कि गर्हित-से-गर्हित कर्म किये हुए जीवका अकारण ही उद्धार कर दें। जब भगवान्की ओरसे नरदेह-ऐसा रत्न अहेतुक स्नेहपूर्वक मिल जाय तो उसे क्या करना चाहिये, यह आगे चलकर कहेंगे।

नोट—☞ *'बिनु हेतु सनेही'* इति। जो मनुष्य अपनी स्वाभाविक दुर्बलताके कारण भगवान्के आदर्शपथपर अग्रसर होनेमें असमर्थ हैं, उन नैराश्यके दलदलमें फँसे हुए जीवोंके लिये इन पदोंसे आश्वासनकी सफल अभिव्यंजना हो रही है। *'नर तनु भव.........'* में भगवान् कहते हैं कि यदि नरशरीररूपी जहाजसे यह जीव संसारसागर पार जाना चाहे तो मेरी कृपा अनुकूल पवन होगी। इन शब्दोंमें कैसे उच्च औदार्यका

भाव छिपा है। भगवान्‌का अभिप्राय है कि जीव यदि अपने कर्तव्यको समझे और उसका उपयोग करे तो उसे मेरी अनुकम्पा अनायास प्राप्त हो जायगी, उसके लिये जीवको प्रयत्न करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी। यदि ऐसे दुर्लभ साजको पाकर भी वह असफल ही रहेगा तो आत्महत्याके पापका फल भोग करेगा। इस तरह भविष्यके दुष्परिणामकी चेतावनी देकर मनुष्योंको अपने कर्तव्यकी ओर चल पड़नेकी स्फुट शिक्षा दी जा रही है (पं० श्रीहरिवक्षजी सम्पादक 'जीवन-विज्ञान')।

नरतनु भवबारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥ ७॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥ ८॥

शब्दार्थ—**बेरो**=बेड़ा। **सन्मुख**=अनुकूल, यथा—'**मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्**।'(भा० ११। २०) **करनधार**=कर्ण (पतवार जो नावके सिरेपर जलमें लटकाया रहता है। इसीको घुमा-घुमाकर केवट जिधर ले जाना चाहते हैं उधर नावको ले जाते हैं)। **धार** (धारण करनेवाला)=केवट, मल्लाह। **साज**=सामग्री।

अर्थ—नर-शरीर (चाहे जिस वर्णका भी हो) भवसागरके लिये बेड़ा है। मेरी कृपा सन्मुख पवन है॥ ७॥ सद्‌गुरु दृढ़ नावका कर्णधार है। सब दुर्लभ सामान (सामग्री) सुगमतासे पा गया॥ ८॥

वै०—'***भवबारिधि कहुँ बेरो***' इति। साखू-शीशमादिके लट्ठोंको जब नदीद्वारा देशान्तरमें ले जाना होता है तब पचीस-तीस लट्ठे मिलाकर रखते हैं, फिर उनपर चार, पाँच लकड़ियाँ बेड़ी-बेड़ी रखकर सबको एकहीमें रस्सोंसे बाँधकर उसपर बाँसके ठाट धर देते हैं। इसीको बेड़ा कहते हैं। यह किसी भी विघ्नसे डूबता नहीं। नरतनमें यह सब क्या है? श्रवण-कीर्तन, तीर्थ-व्रत आदि सत्कर्म लट्ठे हैं। बुद्धि, विचार, धैर्य, दया, धर्मादि रस्से हैं। दुःख-सुखका ज्ञान बाँसोंका ठाट है। संसार सागर है। जीव नरतनरूपी बेड़ेपर बैठा हुआ मनोरथरूपी जलके वेगमें बहा जाता है। जो जीव किनारे लगना चाहे तो श्रद्धारूप वरदवान चढ़ावे तो मेरा अनुग्रहरूप सम्मुख पवन उस बहते हुए बेड़ेको फेर देगा।

टिप्पणी—१ '*सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।*………' इति। मनुष्य-शरीरको बेड़ा अर्थात् घरनई कहा, पर समुद्रमें बेड़ा नहीं चलता। इसी तरह नर-शरीरमात्रसे भवपार नहीं होता, उसके लिये अनुकूल पवन, कर्णधार आदि भी चाहिये तब बेड़ा पार हो। इसीसे कहा कि मेरी कृपा और सद्‌गुरुकी प्राप्ति भी चाहिये तब भवपार हो सकेगा।—यहाँ परम्परित रूपक है। दोहा ४४ में बेड़ापर गौड़जीका टिप्पण देखिये।

रा० प०—सन्मुख मरुत तो बाधक है उसे अनुग्रह कैसे कहा? समाधान—यह जीव ईश्वरकी ओर पीठ देकर जगत्‌के सम्मुख हो रहा है, अनुग्रह जीवपर ईश्वरकी यही है कि वह जीवको जगत्‌की ओरसे प्रथम अपनी ओर फेरता है, तब जगत्‌से विमुख होकर वह अपने पदको पाता है। जैसे नाव जानेको है प्रयाग पर बही जाती है मगहकी ओर, तब पूरबकी बयारि पहिले नावका मुँह फेरकर तब उसे प्रयागको पहुँचाती है। इसी प्रकार सन्मुख मरुत अनुग्रह है। नरतनरूपी बेड़ेपर बैठकर जीव संसार-सागरमें बहा चला जाता है, उसे बहे हुए बेड़ेको बहतेसे रोककर फेर देनेके लिये मेरी दया सन्मुख मरुत है (वै०)। [भगवान्‌के अनुग्रहने सम्मुख वायुके रूपमें सहायता की एवं श्रीसद्‌गुरुरूप कर्णधारने सत्संगरूपी पाल तानकर 'अपनपौ' की डोरियोंको कड़ा कर दिया तो यह विमुख-यात्री जीव लौटकर अपने नित्य निज स्थान श्रीप्रभुके ही श्रीचरणोंमें वापस आ जायगा। (बाबा जयरामदास दीन)

खर्रा—'***सन्मुख मरुत***………' भगवान्‌का कृपा करके अच्छा देश, उत्तम कुलमें जन्म, दीर्घायु, आरोग्यता, सावकाश, अच्छी संगति और सुमति एकत्र कर देना यही सन्मुख पवन है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'मनुष्यका तन बेड़ारूप है और सन्मुख पवनरूप (निर्हेतुक) हमारी कृपा है। अर्थात् मनुष्यका तन कर्मका अधिकारी है। संसाररूप समुद्रसे पार जानेके लिये बेड़ारूप कर्म करे तो सन्मुख पवनरूप हमारी कृपा हो जायगी, बस पार हो जायगी। पुनः संसाररूप समुद्रसे पार जानेके लिये नरतन दृढ़ नौका है और सद्‌गुरु मल्लाह है अर्थात् सद्‌गुरुके पास जाकर ज्ञानके जो साधन वे कहें उसको करे और नौकारूप ज्ञान प्राप्त करके भवसागरसे पार हो जाय; क्योंकि यह साज दुर्लभ है सो सुलभ करके पाया है।'

पं० रा० व० श०—कृपा होनेपर भी बिना गुरुके भगवान् पार नहीं करते, यह बात यहाँ पुष्ट की—'*गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।*' भागवतमें भी ऐसा ही कहा है—(दोहा ४४ देखिये)।

टिप्पणी—२ '*करनधार सदगुर दृढ़ नावा*' इति। जबतक केवल मनुष्य-शरीर था तबतक वह बेड़ेके समान था, पर जब भगवत्-अनुग्रह हुआ और सद्गुरु मिले तब वह शरीर भवसमुद्रके पार जानेयोग्य दृढ़ नाव हो गया—(पां०)। ३—'*दुर्लभ साज सुलभ करि पावा*' इति। भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्य-शरीर और सद्गुरु दिया, इसीसे 'सुलभ' कहा, यथा—'*हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधन धाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो।*'—[तीनोंकी एक साथ प्राप्ति दुर्लभ है इसीसे इसे दुर्लभ साज कहा—(रा० शं० श०)।]

नोट—'*करनधार सदगुरु*' इति। मिलान कीजिये—'**त्वं नः संदर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम्। कलिं सत्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम्।**' (भा० १। १। २२) (शौनकादि महर्षियोंने सूतजीको पाकर ये वाक्य उनसे कहे हैं) पुरुषोंके धैर्य और साहसको हरण करनेवाले इस दुस्तर कलिकालरूपी समुद्रके पार जानेके हम इच्छुकोंसे विधाताने कर्णधारके समान आपको मिला दिया है। वैसे ही यहाँ सद्गुरुको कर्णधार कहा।

प० प० प्र०—'*मेरो*' इति। यहाँ ऐश्वर्यभाव उमड़ आया। अपनी कृपाशीलताको हृदयमें न रख सके, अपना अवतारत्व सँभाल न सके, अवतारित्व प्रबल हो उठा और '*मेरो*' कह ही दिया। ☞ जहाँ-जहाँ भक्तिप्रतिपादनका सम्बन्ध आया वहाँ-वहाँ ऐसा ही हुआ है। ३। १६। २, ४। १६। १०, ५। ४४। २ देखिये।

बाबा जयरामदासजी दीन—अबतक तो अपने कथनमें ईश्वरको अन्य पुरुषके रूपमें कहते आये, परंतु यहाँ '*मेरो*' से स्पष्ट कर दिया कि वह ईश्वर मैं ही हूँ। आगे भी ऐसे ही शब्दोंका प्रयोग करेंगे। इसका कारण और कुछ नहीं, भगवान् श्रीरामजीकी असीम करुणा है। ज्यों ही 'करुणा' शब्दके उच्चारणका प्रसंग आया—'*कबहुँक करि करुना*........' त्यों ही श्रीकरुणाधाम दयानिधानसे रहा नहीं गया, उनकी करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, जिसको सँभाल न सकनेके कारण वे खुलकर प्रकट होकर 'मेरा' 'मोर' आदिका स्पष्ट कथन करने लगे कि जिस प्रकार करुणा करके मैंने आप लोगोंको मनुष्य-तन दिया, उसी प्रकार आज करुणा करके मैं समस्त पुरवासियोंको मोक्षाधिकारी भी बना रहा हूँ।

दो०—जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥ ४४॥

शब्दार्थ—**कृतनिंदक**=कृतघ्न=किये हुए उपकारको न माननेवाला, नाशुकरा। **आत्माहन**=आत्मघाती, जो अपने-आपको मार डाले।

अर्थ—जो मनुष्य ऐसा समाज पाकर भवसागर न तरे वह कृतघ्न* है, मन्दबुद्धि (अर्थात् हानि-लाभ-विचाररहित) है और आत्महत्या करनेवालोंकी गतिको पहुँचता है॥ ४४॥

रा० शं०—'*जो न तरै*' से जनाया कि इस सामग्रीके मिलनेपर भवपार होना उसके अधीन है। सद्गुरुके आश्रित होकर हमारी कृपाका भरोसा रखे अन्यका नहीं।

नोट—'*जो न तरै*' कहकर सूचित किया कि इस शरीरको पाकर जबतक यह सर्वावयवपूर्ण है, विपत्तिग्रस्त नहीं होता तबतक ही विवेकी पुरुषको अपने कल्याणका साधन कर लेना चाहिये, यथा— '**ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः। शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥**' (भा० ७। ६। ५) श्रीभर्तृहरिजीने भी कहा है '**यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः। आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥**' (वै० श० ७५) अर्थात् जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जरावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ बनी हुई हैं, आयु क्षीण नहीं हुई, तबतक बुद्धिमानोंको चाहिये कि आत्मकल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लें। नहीं तो घरके जलनेपर कुआँ खोदनेसे क्या होगा!

* श्रीनंगे परमहंसजी कृतनिन्दकका अर्थ 'निन्दा करनेके योग्य' और 'आत्माहन गति जाइ' का अर्थ 'आत्महत्या' कर रहा है तात्पर्य उसको आत्महीन गति (अधोगति) की प्राप्ति होती है'—यह किया है।

पर, ग्रन्थकार जरा-अवस्था आ जानेपर भी सहारा दे रहे हैं—*'अब सोचत मनि बिनु बिहंग ज्यों बिकल अग दले जरा धाय।.........जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‍यो ते लजात होत ठाढ़े ठायँ। तुलसी सुमिरि अजहु रघुनाथहिं तर्‍यो गयंद जाके एक नाय॥'* (वि० ८३), *'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजु राम जन-सुखदायकं॥'* (वि० १३६), *'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथ नाइहै। तत्काल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥'* (वि० १३५) भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा करते हैं कि *'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥', 'जौ सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं॥'*—इतना सुगम भवतरणोपाय पाकर भी सम्मुख होकर भव न तर गया तो उससे अधिक अभागा कौन होगा!

टिप्पणी—१ *'कृतनिंदक'* कहा क्योंकि भगवान्‌का उपकार नहीं माना कि निर्हेतु कृपा करके भवसागर पार करनेके लिये यह शरीर दिया। २—*'आत्माहन'*। हन् धातुका अर्थ हिंसा है—**'हन् हिंसायाम्'** भाव कि उसने आत्माको मारा, उसकी दुर्गति की कि उसके उद्धारका संयोग पाकर उद्धारका उपाय न किया।

नोट—१ इससे मिलते हुए श्रीमद्भागवतमें दो श्लोक हैं। उनमें भी आत्महन शब्दका प्रयोग हुआ है, यथा—

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥' (भा० ११। २०। १७)

अर्थात् मनुष्य-शरीर सब शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है, सबसे श्रेष्ठ है और दुर्लभ होते हुए भी सुलभ हो गया है। वा, सत्कर्मियोंके लिये सुलभ और दुष्कर्मियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। भवसागर पार जानेके लिये यह एक अत्यन्त दृढ़ नौका है। शरण ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं। भगवान् कहते हैं कि मेरे कृपारूपी अनुकूल पवनसे प्रेरित होकर यह लक्ष्यकी ओर बढ़ सकता है। इसे पाकर जो संसारसे पार नहीं होता है वह आत्मघाती है। **'त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च। न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्म-हनो यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः॥'** (भा० १०। ८७। २२) अर्थात् श्रुतियाँ कहती हैं कि आपकी सेवाके उपयुक्त यह मनुष्य-शरीर ही आत्मा, बन्धु और प्रिय जनके समान आचरण करनेवाला अर्थात् स्वाधीन है, किन्तु हा! हा! इस साधन-शरीरको पाकर भी आप ऐसे हितकारी, प्रिय और आत्माको सुहृद् जानकर नहीं भजता वरन् असत् ही (शरीर, परिवार इत्यादि) व्यवहारमें लगा रहता है, इसीसे यह आत्मघात करता हुआ संसार-चक्रमें घूमता रहता है।

२—यजुर्वेदके ४० वें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का निम्न मन्त्र बताता है कि आत्महनकी गति क्या होती है।—**'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ता ँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥'** (३) अर्थात् जो लोग आत्महत्या करते हैं वे मरनेपर ऐसे लोकोंको जाते हैं जिनका नाम 'असुर्या' है अर्थात् जो आसुरी सम्पत्तिवालोंके लिये प्रेतलोक है, जो घोर अंधकारसे ढँके रहते हैं।

जैसे ईशावास्योपनिषद् कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका उपदेश मन्त्र २ में करके तब इस मन्त्र ३ में उसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन किया है, वैसे ही यहाँ मानसमें भगवान्‌ने *'बड़े भाग मानुष तन पावा'* से *'दुर्लभ साज सुलभ करि पावा'* तक यह बताकर कि मनुष्य-तनसे ही भवपार हो सकते हैं। उसमें ये साधन करके जन्म-मरणसे निवृत्त हो जाना चाहिये, तब जो इसके विपरीत करेंगे उनकी गतिका वर्णन इस दोहेमें किया है।

जो लोग विषयोंमें आसक्त होते हैं चाहे वे कैसे ही बड़े प्रतिष्ठित पुरुष क्यों न हों, वे बार-बार कूकर-शूकर आदि असुर योनियोंमें और भयानक योनियोंमें जन्म लेते हैं। यही बात भगवान्‌ने गीतामें भी कही है। यथा—**'अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥'** (१६। १६) ....**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥'** (२०)—इसमें भगवान्‌ने यह भी बता दिया कि आसुरी योनिको प्राप्त होनेपर फिर और भी अधिक नीच गतिको वे

मूर्ख प्राप्त होते हैं, फिर वे मुझे नहीं प्राप्त कर सकते। अतः मनुष्यको उचित है कि नर-तन पानेपर अपनी आत्माका उद्धार कर ले, उसे नीचे न गिरावे, यथा—'**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्॥**' (गीता ६। ५)

प० प० प्र०—मानसमें 'कृतनिंदक' शब्द विशेष देकर मानो भागवतके श्लोकका स्पष्टीकरण किया गया है। '**दुर्लभं त्रयमेतद्वै देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥**'

गौड़जी—भगवान् शंकर जब अहेतुक स्नेह करके अनन्त और अपार भवसागरमें उत्तुङ्ग तरङ्गोंके थपेड़े खाते हुए जीवके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीररूपी बेड़ा दे देते हैं, तो यह मनुष्य लहरोंके मारे इधर-का-उधर होता रहता है। इस जहाजी बेड़ेको ठीक राह नहीं मिलती। यहाँ बेड़ा शब्द बड़ा ही उपयुक्त है। बेड़ा कई जहाजोंके समूहको कहते हैं। मनुष्य-शरीर भी एक ही शरीर नहीं है, प्रत्येक शरीर स्थूल, लिंग, सूक्ष्म और कारण—इन चार शरीरोंका समूह है। यह चार जहाजोंका बेड़ा है। भगवान् शंकरकी बड़ी कृपासे जब यह जहाजोंका बेड़ा भी मिला तो अनन्त और अगाध भवसागरमें निरपेक्ष्य बुद्धिसे बहते जानेसे तो कोई काम न चलेगा, लहरें मारकर इसको भारी भ्रमरावर्त्तमें ले जाकर डुबा सकती हैं, ऐसी अवस्थामें विनाशसे कौन रोकेगा? जिसकी प्रतिज्ञा है—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**' यदि यह कहो कि इस तरह तो सभी जीव भक्त हुए तो इसका उत्तर यह है कि सभी जीवोंको तो यह सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, जीवोंकी संख्या अपरिमित और अनन्त है जैसा कि ऊपरकी व्याख्यामें दिखाया जा चुका है। सबके लिये श्रीमुख-वचन है—

'**मम माया संभव परिवारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥**
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मम सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥'

मनुष्ययोनि सब जीवोंसे भगवान्‌को अधिक प्यारी है, क्योंकि इसीसे नीच-से-नीच भक्तका उद्धार होता है और भगवान्‌की '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' प्रतिज्ञा पूरी होती है। इसीलिये भटकते हुए जहाजी बेड़ेको भगवान्‌की अनुग्रहरूपी वायु सम्मुख आकर विनाश-मार्गपर जाते हुए बेड़ेको रोकती है और उसे उचित मार्गपर लगा देती है यह कितनी भारी कृपा है। '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' यह प्रतिज्ञा कैसे गाढ़े वक्तमें काम आती है। जब बेड़ा ठीक रुखपर लगा दिया गया तब भी क्या बिना किसी सहायताके उचित मार्गपर जा सकता है? उसे बड़े ही कुशल कर्णधारकी आवश्यकता है। यह कर्णधार सद्गुरु है। नावका भी दृढ़ होना बहुत जरूरी है। संयमनियमादिके इस शरीररूपी नावको दृढ़ बनाया हो तभी गुजारा हो सकता है, नहीं तो नाव टूट जा सकती है। यह दुर्लभ साज है। जिसे यह सुलभ हो जाय वह नर ऐसा समाज पाकर न तरे तो वह कृतघ्न है, क्योंकि वह ईशके अहेतुक स्नेहका लाभ नहीं उठाता। मतिमन्द है क्योंकि वह 'कबहुँक' वाले अवसरको खो देता है और वह आत्मघातीकी गति पाता है, क्योंकि वह अपनेको जान-बूझकर अगाध भवसिन्धुमें डुबा देता है।

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू॥ १॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥ २॥

अर्थ—जो परलोकमें और यहाँ दोनों लोकोंमें सुख चाहते हो तो मेरा वचन सुनकर हृदयमें दृढ़ करके धारण कर लो॥ १॥ भाइयो! यह मेरी भक्तिका मार्ग सुगम और सुखदायक है, वेद और पुराण कहते हैं॥ २॥

पं० रा० व० श०—'*जौं परलोक इहाँ*.........' इति। यहाँ परमार्थ-साधनका प्रसङ्ग और उपदेश चल रहा है, इसीसे यहाँ '*परलोक*' कहकर तब 'इहाँ (इह लोक) कहा। [पहले परलोक कहा तब यह लोक; क्योंकि चतुर लोग पहले परलोक सुधारनेका उपाय करते हैं। (रा० शं० श०)] कोई साधन परलोकहीका

सुख देते हैं और कोई इसी लोकका, दोनों सुख रामभक्ति छोड़ और किसी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकते। अतः कहा कि दोनों चाहो तो हमारी बात दृढ़ पकड़ो और भक्ति करो—*'मीठो अरु कठवत भरो रौताई अरु छेम। स्वारथ परमारथ सुलभ रामनाम के प्रेम॥'* (दो० १५), *राम-नाम (काम-तरु)जोइ जोइ माँगिहै। तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥'* (वि० ७०), *'पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥'* (दो० ५७०)

गौड़जी—यहाँ एक तो श्रीमुखवचनको पुरजनसे मनवानेकी बात है। भाइयो! तुमलोग अगर चाहते हो कि परलोकमें भी सुख हो और यहाँ भी हो, तो मेरी बात सुनकर हृदयमें मजबूत पकड़ लो। पहले भी कह गये हैं कि सुन लो, परंतु जो पसंद आवे तो करो। यहाँ भी वैसी ही शर्त है कि अगर दोनों लोकोंका सुख चाहते हो तो सुनो और हृदयसे मजबूत पकड़ो। सुनना तो हर हालतमें जरूरी है, करना अपने अख्तियारी है। भक्ति हृदयकी बात है इसलिये हृदयसे ही मजबूत पकड़ना चाहते हैं। भक्तिका मार्ग है जिसपर हृदयको चलना है। इसीलिये रास्तेको मजबूतीसे पकड़ना कहा।

टिप्पणी—१ *'सुनि मम बचन.........'* का भाव कि इहलोक और परलोक दोनोंका सुख मेरे वचनोंमें है। [बाबा जयरामदासजी लिखते हैं कि यहाँ भगवान् अपने सदुपदेशको श्रद्धापूर्वक श्रवण करना कहनेके पश्चात् *'दृढ़'* शब्दसे मनन और *'गहहू'* शब्दसे निदिध्यासनका भी संकेत करके श्रवण, मनन, निदिध्यासन—तीनोंका लक्ष्य करा रहे हैं।] २—*'सुलभ सुखद मारग यह.........'* इति। भाव कि लोक-परलोक दोनोंमें सुख इतना बड़ा लाभ सुनकर शंका होगी कि जो सुलभ होता है वह सुखद नहीं होता और जो सुखद है वह सुलभ नहीं। उसपर कहते हैं कि यह मार्ग सुलभ भी है और सुखद भी। ३—*'पुरान श्रुति गाई'* इति। प्रथम श्रीरामजीने कहा कि *'सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू।'* यह कहकर फिर कहते हैं कि यह हमारा स्वतन्त्र मत नहीं है, हम अपनी मनगढ़न्त नहीं कहते वरन् वेद-पुराण ऐसा कहते हैं।—यह अर्थ माधुर्यके अनुकूल हुआ। और ऐश्वर्यके अनुकूल इस प्रकार है कि—हमारे वचन सुनकर हृदयमें धरो। कौन वचन? जो वेद-पुराणोंने गाया है, वही हमारा वचन है, यथा—*'मारुत स्वास निगम निज बानी'* इत्यादि। ४—☞ कर्म, उपासना और ज्ञान-ये तीन काण्ड वेदोंमें हैं। इनमेंसे ज्ञान दुर्लभ है, कर्मकाण्ड दुःखद है। जैसे कि राजा नृगने अनेक गोदान किये तथापि गिरगिट हुए और मेरी भक्ति सुलभ और सुखद है ऐसा वेद-पुराण कहते हैं। जिसका जी चाहे वेद-पुराणोंमें देख ले।

सुलभता और सुखदातृत्व आगे प्रभु स्वयं विस्तारसे कहते हैं। दोहा ४५ (३) से ४६ तक।

गौड़जी—*'सुलभ सुखद.........भगति मोरि.........।'* श्रीमुखवचन तो केवल इशारामात्र है। वह यह है कि भक्तिका मार्ग सुखदायक भी है और आसानीसे मिल भी जाता है, 'मीठा भी है और भरि कठवत भी' है कि जो यह कहो कि ऐसी अद्भुत चीज कहाँ मिलेगी? उसकी क्या पहिचान है, सब बातें विस्तारसे बताइये तो कहते हैं कि वेदों और पुराणोंमें इसपर विस्तारसे वर्णन किया गया है। यही सबसे अच्छा मार्ग है। यहाँ 'मेरी भक्ति' कहकर स्पष्टरूपसे अपनी गुप्त विभूतिको पुरजनोंके सामने प्रकट कर देते हैं। एकदम इस तरह रहस्य क्यों खोल देते हैं? उसका कारण यह है कि ये सभी पार्षद हैं। जो भगवल्लीलाके साथ-साथ बराबर रहे हैं—*'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (४। २६) यद्यपि यह निश्चयरूपसे शरीरबन्धनके कारण इस रहस्यको नहीं जानते थे तथापि रामराज्यकालमें ही इनके—सबके आचरण अनुकूल कर देनेके लिये इस रहस्यके खोल देनेकी आवश्यकता थी। गीताजीके उपदेशमें अर्जुनको भी यह रहस्य बताया गया है। यहाँ पुरवासियोंको भाई करके सम्बोधन करनेका यह भी कारण है कि पार्षदोंको और अपने सभी दासोंको अपना सखा करके मानते हैं और सखाओंसे कोई बात छिपी भी नहीं रहती। यह माधुर्य भाव है।

नं० प०—*'मारग यह भाई'* इति। सूचित कर रहे कि भवसागर पार जानेके लिये प्रथम कर्मरूप बेड़ा कहा। पुनः ज्ञानरूप नौका कहा और अब भक्तिरूप मार्ग कहते हैं; तो पार जानेके लिये यही तीन जरिये हैं। बेरा, नौका, सेतु। तो सेतुकी मार्गमें गिनती है, क्योंकि पग-पगसे चलनेका योग है। इसी भक्तिरूप

सेतुको मार्ग कहे हैं अर्थात् भक्तिरूप सेतुसे पार जाना कर्मरूप बेरा और ज्ञानरूप नौकासे सुलभ और सुखद है, क्योंकि—'*ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।*.........*बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥*' [मानसकी उपर्युक्त रामगीतामें कहीं कर्मका बेड़ा और ज्ञानकी नौकाका होना नहीं कहा है।]

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ ३॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥ ४॥
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥ ५॥

अर्थ—ज्ञान कठिन है उस (की सिद्धि) में (अहंकारादि) अनेक विघ्न हैं। उसका साधन (शम, नियम, अष्टाङ्गयोग) कठिन है। उसमें मनके लिये कोई आधार नहीं है॥ ३॥ बहुत कष्ट करनेसे भी (कदाचित्) कोई पा जावे तो भी भक्तिरहित होनेसे वह मुझको प्रिय नहीं होता॥ ४॥ भक्ति स्वतन्त्र है (किसीके अधीन नहीं है), और सब सुखोंकी खानि है (पर) बिना सत्सङ्गके लोग इसे नहीं पाते॥ ५॥

नोट—ज्ञानको अगम इत्यादि कहकर जनाया कि भक्ति सुगम है, उसमें विघ्न नहीं, इसका साधन कठिन नहीं है, क्योंकि यहाँ मनके लिये उपास्य एक आधार है, इसमें कष्ट नहीं है और सभी प्राप्त कर सकते हैं, यथा—'*अस बिचारि जोइ कर सत्संगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा॥*' (१२०। १९) तथा भक्तिवान् प्रभुको प्रिय है—यह सब ज्ञानदीपक प्रसङ्गमें विस्तारसे आवेगा।

गौड़जी—'*ज्ञान अगम*.........' इति। जो यह कहो कि वेदों-पुराणोंमें तो ज्ञान और कर्मकी भी बातें कही हैं। अकेले भक्तिका वर्णन नहीं है और मोक्षके लिये कहा है कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं हो सकती और आप भी श्रीमुखसे कहते हैं कि यह शरीर मोक्षका द्वार है तो फिर क्यों न मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञानका ही साधन किया जाय तो उसपर श्रीमुखवचन है कि '*ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका*.........*सोऊ।*' ज्ञान अगम है, सुगम नहीं है। ज्ञानके मार्गपर चलनेमें सुभीता नहीं है।—'*भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥*' और '*ज्ञान कै पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥*' उपनिषदोंमें भी ज्ञानके मार्गको असिधार या क्षुरधार मार्ग कहा है। इसीलिये कि यह अत्यन्त अगम है, इस मार्गसे गिरते देर नहीं है, जो कोई कदम बचाकर किसी तरह चल भी सका तो उसके सामने अनेक प्रत्यूह, बहुत-सी रुकावटें आ जाती हैं और आगे नहीं बढ़ने देतीं। फिर ज्ञानका साधन भी बहुत कठिन है, योगमार्गसे शरीरका पूरा संयम करनेके बाद राजयोगके द्वारा आत्मतत्त्वको यथार्थ रीतिसे जान लेना और जानकर अपने बाहरी आपेको प्रत्यगात्माके सम्मुख निरन्तर रखना यह अत्यन्त कठिन साधन है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मन चञ्चल है कहीं टिकता नहीं। भगवान्ने गीतामें कहा है कि इसे अभ्यास और वैराग्यसे रोक रखना होता है, और अभ्यास तथा वैराग्य ही कौनसे सहज काम हैं? दोनों-के-दोनों बड़े कष्टसाध्य हैं। हमने माना कि सब तरहके कष्ट उठाकर किसीने ज्ञान प्राप्त भी कर लिया तो वह भी भक्तिके बिना मुझे प्रिय नहीं है। अर्थात् अन्तको मेरा अधिक प्रिय बननेके लिये इतने घोर कष्ट उठानेके बाद भी भक्तिके सहारे बिना काम न चलेगा।

टिप्पणी—१ (क)—'*न मन कहुँ टेका*' अर्थात् उसमें कोई उपास्य नहीं होता जिसमें मन ठहर सके। (ख)—'*करत कष्ट बहु पावै कोऊ*' का भाव कि ज्ञान कष्टसे ही मिलता है और वह भी सबको नहीं, किसी-किसीको ही मिलता है। २—'*भगति सुतंत्र*.........' अर्थात् भक्ति अपने अधीन है, यथा—'*सो सुतंत्र अवलंब न आना।*' (३। १६। ३) यह कहकर फिर कहते हैं कि '*बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी*', इससे शंका होती है कि भक्ति भी तो सत्सङ्गके अधीन है तब स्वतन्त्र कैसे कहा? समाधान यह है कि सत्सङ्ग भी भक्ति है, यथा—'*प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।*' (३। ३५। ८) तात्पर्य कि भक्ति अपने स्वरूपसे ही पैदा होती है।—[सत्सङ्ग स्वयं एक प्रकारकी भक्ति है, कुछ भक्तिका साधन नहीं है। भक्तियोग नाना प्रकारके मार्गोंसे प्रचलित है, क्योंकि मनुष्योंके भाव भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। यथा—'**भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते। स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥**' (भा० ३। २९। ७)]

गौड़जी—'*भगति सुतंत्र.........अता।*' और जो यह कहते हो 'भक्ति करनेसे क्या ज्ञानकी जरूरत न पड़ेगी। कोरे भक्त ज्ञानी तो होते नहीं, मुक्तिके लिये ज्ञानका होना अनिवार्य है'—तो इसपर कहते हैं कि भक्ति स्वतन्त्र है, वह इस बातकी मोहताज नहीं है कि उसकी प्राप्तिके लिये ज्ञानका उपार्जन किया जाय और ज्ञानसे जो कुछ मिलता है अर्थात् मुक्तितक वह भक्तिसे सुलभ है। बल्कि मुक्तिका दर्जा बहुत घटा हुआ है। भक्त लोग मुक्तिका निरादर करते हैं—'*मुक्ति निरादर भगति लुभाने*', इसीलिये भक्ति स्वतन्त्र है और सब सुखोंकी खानि है। तो क्या ज्ञान परतन्त्र है? हाँ, वह परतन्त्र ही नहीं है, वह इस अर्थमें भक्तिके अधीन है कि उसके बिना ज्ञान अपूर्ण होता है। गीतामें ज्ञानके लक्षणोंमें '**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' ज्ञानका एक आवश्यक लक्षण यह है कि भगवान्में अनन्य भावसे अविरल भक्ति रखे। और अन्यत्र भी कहा है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**' श्रद्धावान्को ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तात्पर्य यह कि बिना भक्तिके ज्ञान अपूर्ण रहता है। परंतु बिना ज्ञानके भक्ति अपूर्ण नहीं रहती, साथ ही भक्तिसम्पन्नको ज्ञान अपने-आप प्राप्त हो जाता है। इसीलिये भक्ति स्वतन्त्र है और सब सुखोंकी खानि है। परंतु भक्ति मिले कैसे? बिना सत्सङ्गके भक्ति नहीं मिलती। सत्सङ्गका मिलना और भक्तिका मिलना एक ही बात है। भक्तिरूपी विस्तृत, विशाल और अपार सुखका एक छोर सत्सङ्ग है। जिसने सत्सङ्ग प्राप्त किया उसने भक्तिके एक अङ्गको ग्रहण कर लिया।

प० प० प्र०—भक्ति स्वतन्त्र होनेपर भी उसके अनेक साधन हैं पर वे भी भक्तिमय ही हैं। विशेष '*भगति के साधन कहउँ बखानी।*' (३। १६। ५) में देखिये। भक्तिसे ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति ईश्वरकृपासे सहजहीमें हो जाती है। यथा—'**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥**', '**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥**', '**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।**' (इति गीतायाम्)

वि० त्रि०—'*भगति सुतंत्र.........प्रानी।*' इति। भाव यह कि ज्ञान और कर्म भक्तिके परतन्त्र हैं, भक्तिविहीन वे किसी कामके नहीं, यथा—'*सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ। जोग कुभोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।*' परंतु भक्ति, ज्ञान और कर्मके पराधीन नहीं है, इसलिये उसे स्वतन्त्र कहते हैं, यथा—'*रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥*' तथा '*रीझत राम सनेह निसोते।*' यह सब सुखकी खानि है, भक्ति होनेसे ज्ञान-वैराग्यका आप-से-आप उदय होता है।

अतः भक्ति चाहनेवालेको सत्सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि बिना सत्सङ्गके भक्ति हो नहीं सकती, यथा—'*भक्ति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला॥*'

नोट—श्रीमद्भागवतमें श्रीजडभरतजीने राजा रहूगणसे कहा है कि भगवान्का ज्ञान महापुरुषोंकी चरणरजको सिरपर धारण करनेके सिवा, तप, यज्ञ, दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ (महत्पुरुषोंके समाजमें) पवित्र कीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी विषयवासनाओंको दूर करनेवाली चर्चा होती है। उसका नित्यप्रति सेवन करनेसे वह भगवत्कथा मुमुक्षुकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवकी ओर प्रवृत्त कर देती है। यथा—'**रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः। निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे।**' (५। १२। १२-१३)

यह कहकर उन्होंने फिर यह कहा है कि साधुसमागमसे प्राप्त ज्ञानसे मनुष्य मोहबन्धनको काटकर भगवान्की लीलाओंका कथन-स्मरण करके भगवान्को प्राप्त कर लेता है—'**हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः॥**' (१६)

राजा रहूगणने भी कहा है कि जिनके एक मुहूर्तभरके समागमसे मेरा कुतर्कमूलक अज्ञान दूर हो गया। ऐसे आपके चरण-कमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्की निर्मल भक्तिकी प्राप्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। '**न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो**

भक्तिरधोक्षजेऽमला। मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः।' (५। १३। २२) श्रीप्रह्लादजीने भी दैत्यबालकोंसे यही कहा है कि बाह्यविषयोंके अभिमानी दुर्बुद्धि अपने परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌को नहीं जान सकते। जबतक वे अपने-आपको निष्किंचन महापुरुषोंके चरणरजसे अभिषिक्त नहीं करते तबतक उनकी बुद्धि भगवान् उरुक्रमके चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती, जिससे कि संसाररूप अनर्थका सर्वथा नाश हो जाता है। यथा—'**न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।**' '**नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥**' (भा० ७। ५। ३१-३२)

मानसमें भी शङ्करजीने गरुड़जीसे कहा है कि '*बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥ ६१॥*'

श्रीमुचुकुन्द महाराजने भी भगवान्‌से यही कहा है कि जब मनुष्यके बन्धनका आप अन्त करना चाहते हैं तब संसारचक्रमें भटकते हुए उस मनुष्यको आपकी कृपासे सत्सङ्ग मिलता है, जिससे उसकी समस्त ममताएँ छूट जाती हैं और आपमें भक्ति होती है। यथा—'**भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः। सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥**' (भा० १०। ५१। ५४)

अतः कहा कि '*बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।*'

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ ६॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥ ७॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करै द्विज सेवा॥ ८॥

अर्थ—बिना पुण्यसमूहके संत नहीं मिलते। सत्सङ्ग संसारका अन्त करनेवाला है अर्थात् फिर संसारमें जन्म-मरण नहीं होता॥ ६॥ मन-कर्म-वचनसे ब्राह्मणोंके चरणोंकी पूजा करना संसारमें पुण्य एक ही है, (उसके समान दूसरा नहीं है)॥ ७॥ जो कपट छोड़कर ब्राह्मणोंकी सेवा करे उसपर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं॥ ८॥

गौड़जी—'*बिनु सतसङ्ग*·········*पुन्यपुंज*·········' इति। (शृङ्खलाके लिये पूर्व अर्धाली देखिये) परन्तु सत्सङ्ग पानेकी एक भारी शर्त है—'*बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता.*' (सुं०) '*पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता*' '*सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बस आई॥*' इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है कि हरिकृपाके बिना हृदयमें श्रद्धा नहीं होती और संत नहीं मिलते और श्रीमुखवचन भी है कि बिना पुण्यपुञ्जके संत नहीं मिलते हैं। इस तरह संतोंके मिलनेके लिये दो प्रकारके साधन हुए, एक तो क्रियात्मक अर्थात् पुण्यपुञ्ज, दूसरे कृपात्मक अर्थात् श्रद्धा वा हरिकृपा। इसलिये पहले अनुग्रहवाली बात कह चुके हैं—'*सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो*' और जब अनुग्रह हुआ तब संत सद्गुरुने कर्णधारका काम किया, सम्मुख मरुत होनेसे श्रद्धा उत्पन्न हुई, और सद्गुरुकी खोज हुई, भक्ति मिली और जीव भवसिंधुसे पार हुआ। यहाँ क्रियात्मक साधन पुण्यपुञ्जकी चर्चा है। मनुष्य एक क्षण बिना कर्म किये रह नहीं सकता, भले-बुरे सभी कर्म करता रहता है। इसलिये जब उसके पुण्योंका समूह बल करता है तब संत मिलते हैं और सत्सङ्गके द्वारा तीनों तापोंसे छुटकारा मिल जाता है। सुनकर यह उत्कण्ठा होनी स्वाभाविक है कि अच्छे कर्मोंका भी कुछ नुसखा बता दिया जाता तो अच्छा होता, पुण्यपुञ्जकी बात क्योंकि कर्म, अकर्म, विकर्मका समझना तो पण्डितोंके लिये भी कठिन है और जब सत्सङ्गसे तीनों ताप नष्ट होते हैं और पुण्यपुञ्जके बिना यह मिल नहीं सकता तो तापोंसे छुटकारा पानेके लिये पुण्यकर्म आवश्यक हुए। कोई आसान नुसखा मालूम होना चाहिये तो इसपर कहते हैं कि '*पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा।*' एक बहुत भारी पुण्य बताते हैं, जगत्‌में उसके समान कोई दूसरा पुण्य नहीं है और वह है—मनसा-वचसा-कर्मणा विद्वान् ब्राह्मणोंके चरणकी पूजा। यह वह पुण्यकर्म है जिसके करनेसे मुनि और देवता सभी खुश रहते हैं, परंतु शर्त यह है कि छल-कपट छोड़कर शुद्ध मनसे द्विज-सेवा की जाय।

टिप्पणी—१ *'नहिं दूजा'* का भाव कि धर्म ब्राह्मणोंके पूजनसे पूर्ण होते हैं। उसी ब्राह्मणके जब चरणकमलका पूजन किया तब वह धर्म सब धर्मोंसे श्रेष्ठ क्यों न हो? इसी धर्मका फल आगे कहते हैं। २—*'सानुकूल तेहि पर मुनि देवा'* इति। इन्हीं दोकी प्रसन्नता कही, क्योंकि ब्राह्मणहीके द्वारा देवता और मुनि पूजाका भाग पाते हैं। ३—कपट त्यागकर सेवा करनेका भाव कि कपटसे विघ्न होता है, यथा—*'तेहि सेवौं मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता॥'* शूद्रने कपटसे पूजा की इसीसे उसे दस हजार वर्ष सर्पयोनिमें रहना पड़ा। ४—ब्राह्मणकी सेवा करनेका भाव कि वे वेदकी रीतिसे भक्तिका उपदेश करेंगे, यथा—*'प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥' 'एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥'* (१६३। ६-७) ५—ब्राह्मणसे निष्कपट होना क्या है? यह कि उसे मनुष्यभावसे न देखे, ईश्वरभावसे देखे—*'मम मूरति महिदेव मई है'* इति। (विनय०)

नोट—पृथुजीकृत प्रजाको ब्राह्मण-सेवाका उपदेश इस प्रकार है—ब्रह्मण्यदेव, पुरातनपुरुष श्रीहरिने नित्य ब्राह्मणोंके चरणोंकी वन्दना करके ही स्थिर लक्ष्मी और जगपावन यश प्राप्त किया। विप्रसेवा करनेसे ही सर्वहृदिस्थित स्वयं प्रकाशमान हरि यथेष्ट संतोषको प्राप्त होते हैं। इसलिये उन हरिके धर्ममें तत्पर होकर विनीतभावसे विप्रकुलकी सेवा कीजिये।-इसके बाद और भी कारण बताये हैं कि क्यों सेवा करनी चाहिये। जैसे कि उनके मुखमें हव्य देनेसे ईश्वरकी जैसी तृप्ति होती है वैसी अग्निमुखमें हवन करनेसे नहीं होती; क्योंकि ये लोग वेदको श्रद्धा, संयमादिपूर्वक नित्यप्रति धारण करते हैं। इत्यादि। यथा—**'ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्। अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः।' 'यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः। तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्।'** (भा० ४। २१। ३८-३९) इत्यादि। विशेष आ० ३३-३४ (१) देखिये।

रा० शं०—पुण्यसे सुख मिलता है यथा—*'पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई'* और *'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं'* अतएव पुण्यपुञ्जसे संतमिलन कहा। अब संतमिलनसे जो सुख मिलता है उसका स्वरूप कहते हैं कि संसृति जो भव-दुःख सो निवृत्त हो जाता है। ब्राह्मणोंकी पूजाको पुण्य कहा। श्रीचक्रवर्तीजीका सुकृत सराहते हुए वसिष्ठजीने भी यही कहा है—*'तुम गुरु बिप्र धेनु सुर सेवी।'*

बाबा जयरामदासजी दीन—*'बिनु सतसंग न पावहिं……।'* इति। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गियोंको उनके अनुकूल अलग-अलग भक्ति-प्राप्तिका मार्ग बतलाया जा रहा है। पहले प्रवृत्ति-मार्गियोंको यह सुलभ उपाय लक्ष्य कराया गया है कि भक्ति सत्सङ्गसे और सत्सङ्ग पुण्यपुञ्जसे प्राप्त होता है, इसलिये पुण्योपार्जन करना चाहिये। पुण्य क्या है यह भी बता दिया। तात्पर्य यह कि यदि सत्सङ्ग प्राप्त करनेमें कठिनाई हो तो सर्वप्रथम निष्कपट होकर विप्र-सेवामें लग जाय। आगे निवृत्ति-मार्गियों-मुनि-संन्यासियोंको श्रीभक्ति-मणिकी प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है—*'औरउ एक……।'*

दो०—औरौ एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥ ४५॥

अर्थ—और भी एक गुप्तमत सबोंसे हाथ जोड़कर कहता हूँ कि शंकरजीके भजनके बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता॥ ४५॥

नोट—*'औरौ एक'* का भाव कि भक्तिकी प्राप्तिका एक उपाय **'विप्रपदपूजासे प्राप्त सत्संग'** कह चुका, एक और उपाय है, उसे अब कहता हूँ। पहले सत्सङ्गसे भक्तिकी प्राप्ति कही। अब अपना गोप्य मत कहते हैं। 'गुप्त' का भाव कि मैं यह प्रायः किसीको बताता नहीं। न बतानेका कारण यह है कि भक्तिसे बँध जाता हूँ। शिवजीके हृदयमें मेरी भक्तिका निवास है। वे जिसको चाहते हैं भक्ति देकर मुझे उसके वश कर देते हैं। यह सुनकर सम्भव है कि तुम कहो कि हम तो आपको ही सब कुछ जानते हैं, इसीसे मैं हाथ जोड़ता हूँ कि मैं तो उनके अधीन हूँ, उनके हाथ बँध गया हूँ, बिना उनके दिये मैं

किसीका हो नहीं सकता। (शीला) पुनः भाव कि विप्रपदपूजनसे प्राप्त सत्सङ्गद्वारा प्राप्तिवाला मत लोकप्रसिद्ध है और जो मत अब कहूँगा वह गुप्त है। (वै०)

☞ शिवनिन्दक वैष्णवोंको यह वाक्य गाँठमें बाँध रखनेका है। उनका *'संकर भजन'* का यह अर्थ करना कि शंकर रामनाम जपते हैं यही *'संकर भजन'* है—केवल खींचतानमात्र है।

टिप्पणी—१ *'एक गुपुत मत'* गुप्त मत कहनेसे सूचित हुआ कि जबतक श्रीरामजीने यह बात खोलकर नहीं कही तबतक यह गुप्त रही, जब उन्होंने अपने हृदयकी बात कह दी तब सबने जाना। अयोध्यावासी तो सब आगेसे ही शिवाराधन करते हैं, यहाँ उनके बहानेसे रघुनाथजीने जगत्‌को उपदेश दिया है।

भा० १२, २५ से स्पष्ट है कि पूर्व सब ऋषि-मुनि वैष्णव होते आये हैं। यथा—'**भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्। सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥**' अर्थात् पूर्वकालमें मुनिजन सत्त्वस्वरूप विशुद्ध भगवान् अधोक्षजका भजन करते थे; अतः इस समय भी जो लोग उन मुनियोंका अनुसरण करते हैं उनका भी कल्याण होता है। रा० प्र० कार गुप्तका भाव यह कहते हैं कि ''वेदतन्त्रमें शिव-शक्ति उपासना ही प्रधान कहा और उपासनारहस्य नारदपाञ्चरात्र आदिमें शम्भु ही उपदेष्टा हैं।''

वै०—तात्पर्य यह है कि विप्रपदपूजादि पुण्यमतके अधिकारी तीन ही वर्ण हैं—ब्राह्मणको यह अधिकार विशेष नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण-ब्राह्मण सजातीय हैं। अतएव यह मत ब्राह्मणोंको भक्तिदायक नहीं है। समाजमें चारों वर्ण हैं, तीनको भक्तिका उपाय बताया, चौथेको अब बताते हैं। यह उपाय चारोंके कामका है अतः कहा कि *'सबहिं कहौं'''''''।'* पर विशेष ब्राह्मणोंसे ही यह कहते हैं अतः *'कर जोरि'* कहा।

टिप्पणी—२ *'कहौं कर जोरि'* इति। बड़े लोग अच्छी बात सिखानेमें अति नम्र होते हैं, हाथ जोड़ते हैं, यथा—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'* (सुं० २२) इत्यादि।

[पंजाबीजीका मत है कि राजा होकर हाथ जोड़नेका भाव यह है कि—१ प्रभु प्रथम ही कह चुके हैं कि मैं अहंकार या प्रभुतासे नहीं कहता, और 'भाई' सम्बोधन कर चुके हैं, अतः अब भी नम्रता करते हैं। २—मैं तुम्हें अपना भक्त जानकर उपदेश करता हूँ। यह मेरा गुह्य सिद्धान्त है अतः इसे हरिविमुखोंके आगे न कहना, यह मैं विनती करता हूँ। ३—भक्तिका उपदेश करता हूँ अतः यह जो भक्तिका स्वरूप है—नम्रता, यह भी स्वयं करके तुम्हें सिखाता हूँ कि इसी तरह नम्रतापूर्वक उपदेश देना चाहिये।]

२—शंकरजीके भजन बिना भक्ति नहीं मिलती, यथा—*'बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥' 'सिवपदकमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सोहाहीं॥'* (१। १०४) *'संकर भजन बिना'* का भाव कि ये कल्याणके करनेवाले हैं जब इनका भजन न किया तब भक्ति कैसे मिले जिससे कल्याण हो।

मयूख—*'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे' 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'* (१। १३८। ७) *'संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥'* (६। २। ८) इन चौपाइयोंका प्रकाशक यह दोहा है।

नोट—श्रीशिवजी वैष्णव-भक्तोंमें शिरोमणि हैं, यथा—'**वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥**'(भा० १२। १३। १६) इसीसे वे भगवान्‌के परमप्रिय हैं। यथा—*'सिव सम को रघुपति ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥ पन करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥'* (१। १०४। ७-८) *'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥'* (६। २। ६)

बाबा जयरामदासजी दीन—*'औरौ एक'''''''* ' यह निवृत्तिमार्गी मुनि—संन्यासियोंको भक्ति-प्राप्तिका उपाय बताया गया। पाठक देखें कि यहाँ भी वेषकी मर्यादाका पूर्णरूपसे निर्वाह किया गया है। भगवान् उनसे हाथ जोड़कर कहते हैं कि आप विरक्त महापुरुषोंके लिये मेरा एक और गुप्त मत है, उसे मैं आप सबको बताता हूँ कि *'संकर भजन'''''''।'* तात्पर्य कि आप विरक्त पुरुषोंको गृहस्थाश्रमियोंकी भाँति ब्राह्मणसेवामें प्रवृत्त होनेकी कोई मजबूरी नहीं है। आपलोग यदि मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो मेरे परमभक्त शंकरजीकी ही आराधना करें। उन्हींके द्वारा आपको मेरी भक्ति प्राप्त हो जायगी।

श्रीरामजी जब अपनेको प्रकट कर ही चुके कि मैं ही ईश्वर हूँ तब श्रोताओंसे हाथ जोड़नेका क्या प्रयोजन? इस शंकाका समाधान यह है कि ऐसा करके भगवान्‌ने नरावतारकी मर्यादाकी रक्षा की है। यही नहीं, भरद्वाज, वाल्मीकि, अगस्त्य आदि अन्य समस्त ऋषि-मुनियोंके सामने भी आपने अपना ऐश्वर्य प्रकट किया है। परंतु साथ-ही-साथ माधुर्यमर्यादाकी रक्षाके लिये अपनी ओरसे उनको प्रणाम किया है। यथा—*'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं'* और *'करत दंडवत मुनि उर लाए।'* इत्यादि।

गौड़जी—पहले कह आये कि बिना सत्सङ्गके भक्ति नहीं मिलती, परंतु लंकाकाण्डमें सेतुबन्धके अवसरपर कह चुके हैं कि—*'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा' 'संकरबिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥'* उन उक्तियोंपर इस स्थलमें यह शंका हो सकती है कि क्या सत्सङ्ग प्राप्त करके शिवद्रोही भी भक्ति पा सकता है? इस शंकाका यह भी अर्थ होता है कि क्या सत्सङ्ग पाकर भी हरिहरमें भेदभाव रह सकता है? इस अभेद विषयको एक दूसरी तरहपर इस दोहेमें स्पष्ट कर दिया है। यह एक गुप्त मत है **'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।'** यह भगवान् सबसे कहते हैं। अबतक यह मत गुप्त था अब प्रकट कर देते हैं। इस गुप्त मतको भगवान् शंकरको स्मरण करके बड़ी दीनता और बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर कहते हैं, क्योंकि यह भगवान् शंकरकी बात है, ऐसे-वैसे किसीकी नहीं है। महाभारतमें ऐसा लिखा है कि पूछे जानेपर अपने दीक्षागुरु उपमन्युके शंकर-सम्बन्धी उपाख्यानके आरम्भ करनेमें भगवान् कृष्णने विधिपूर्वक आचमनादि करके तब आरम्भ किया है। भगवान् स्वयं शंकरके ऐसे विनीत भक्त और सेवक हैं। इसीलिये हाथ जोड़कर कहते हैं कि बिना भगवान् शंकरके भजनके कोई मेरी भक्ति नहीं पा सकता। उधर शंकरभक्ति-सम्बन्धी भगवद्वचनपर स्वयं भगवान् शंकर कहते हैं *'गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥'* और इधर अपने प्रभु शंकरकी चर्चा भी हाथ जोड़कर करते हैं और कहते हैं कि बिना उनकी भक्तिके मेरी भक्ति नहीं मिल सकती। इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि व्यवहारमें हरिहर दो हैं और वास्तवमें एक ही और वह संगति सत्सङ्ग कहलाने योग्य नहीं है, जहाँ हरिहरमें भेद माना जाता हो।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥ १॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥ २॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त* कहहु कहा बिस्वासा॥ ३॥

अर्थ—कहिये तो! भक्तिमार्गमें कौन परिश्रम है, न तो उसमें योग है न यज्ञ, न जप है न तप और न लङ्घन करने पड़ते हैं॥ १॥ सरल स्वभाव हो, मनमें कुटिलता न हो और जो मिले उसीमें सदा संतोष रहे॥ २॥ मेरा दास कहलाये और मनुष्योंकी† आशा करे तो, (तुम ही) कहो, उसको क्या विश्वास है?॥ ३॥

नोट—१ **'कहहु'** का भाव कि हमने जो कहा था कि *'सुलभ सुखद मारग यह'* उस मार्गको हमने बतला दिया कि वह विप्रपद पूजा, सत्सङ्ग एवं शंकरभजनसे प्राप्त होता है; ये सब उपाय सर्वत्र प्राप्त हैं। विप्र सर्वत्र, सत्सङ्ग *'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा'* शंकरजी ऐसे सुलभ कि *'सकहिं न देखि दीन कर जोरे'* तथा *'चाहै न अनंग-अरि एकौ अंग माँगने को देबोई पै जानिये स्वभाव सिद्ध बानि सो। बारिबुंदचारि त्रिपुरारि पर डारिये तौ देत फल चारि लेत सेवा साँची मानि सो॥ तुलसी भरोस न भवेस भोरानाथको तो कोटिक कलेस करो मरो छार छानि सो। दारिद-दमन दुख-दोष दाह-दावानल दुनी न दयाल दूजो दानि सूलपानि सो।'* (क० ७। १६१) अब 'भक्तिपथ' सुन चुके, तुम्हीं कहो इसमें कोई कठिनता है? *'कवन प्रयासा'* अर्थात् योग-यज्ञ आदिमें परिश्रम है, पर इसमें कोई परिश्रम नहीं है। यह कहकर आगे बताते हैं कि योगादि कठिन क्लेशोंकी जगह यहाँ क्या-क्या है।

* तौ—भा० दा०। † करु० तथा वै० का अर्थ—नर (राजा आदि) की आशा करे अथवा जैसे नर विषयकी आशा करते हैं। वैसे ही वह भी करे तो मेरे दासत्वका या मेरा कौन विश्वास है।

☞मिलान कीजिये—'**न ह्यच्युत प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः। आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥**' (भा० ७। ६। १९) श्रीप्रह्लादजी दैत्यबालकोंसे कहते हैं कि भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें कोई प्रयासका कार्य नहीं है, क्योंकि वे सबके आत्मा और सर्वव्यापी हैं।

टिप्पणी—१ *'जोग न मख जप तप उपवासा'* इति।—भाव कि योगादिकमें परिश्रम है। योगमें अष्टाङ्ग साधन करने पड़ते हैं, ये सब कठिन हैं। इनमें तनका कष्ट है। यज्ञमें द्रव्यका खर्च है और शरीरसे भी परिश्रम करना पड़ता है। व्रत-उपवास, तपस्यामें शरीरकष्ट है। ये कोई भक्तिके लिये करने नहीं पड़ते, अतः भक्तिमें परिश्रम नहीं।

२ *'सरल सुभाव..........'*—अर्थात् कपट-छल-रहित हो, कहनी-करनी एक-सी हो, अन्तर-बाहर एक-सा हो। यथा—*'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥'* (१। २३७) कपट भगवान्‌को नहीं भाता। छल छोड़कर स्मरण करनेसे वे कृपा करते हैं। यथा—*'दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। छलहि छाड़ि सुमिरे छोह किए ही हैं॥ किए छोह छाया कमल कर की भगत पर भजतहि भजै। जगदीस जीवन जीवको जो साज सब सबको सजै॥'* (वि० १३५) 'सरल स्वभाव' से स्मरण करनेपर वे सब योग-क्षेम वहन करते हैं। अतः जो वह दें उसीमें संतोष करे, यही आगे कहते हैं। *'जथा लाभ संतोष सदाई'* अर्थात् दैवयोगसे जो कुछ मिल जाय उसीसे संतुष्ट रहे। यथा—'**यदृच्छयोपलब्धेन संतुष्टः।**' (भा० ३। २७। ८)

'कहा बिस्वासा' इति। *'जथा लाभ संतोष'* कहकर अब उसका हेतु बताते हैं कि *'मोर दास कहाइ..........।'* भाव कि उसने हमको मनुष्यके समान भी नहीं माना तभी तो हमको छोड़कर नरकी आशा की; अतएव वह हमारा भक्त कैसा? हमारा भक्त नहीं है। [मुझ विश्वम्भरका विश्वास छोड़कर अन्यपर विश्वास करे यह आश्चर्य है। यथा पाण्डवगीतायाम्—'**भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवः। योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते॥**']

बहुत कहौं का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥ ४॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥ ५॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दक्ष बिग्यानी॥ ६॥

अर्थ—बहुत कथा बढ़ाकर क्या कहूँ। हे भाइयो! मैं इस आचरणके वश हूँ॥ ४॥ किसीसे वैर-विरोध और झगड़ा न करे, किसीसे कुछ आशा और न किसीका भय करे। उसको सब दिशाएँ सदा आनन्दमयी हैं॥ ५॥ (काम्यकर्मके) उद्योगका छोड़नेवाला, जिसका कोई घर नहीं है अर्थात् निराश्रय, मानरहित, निष्पाप, क्रोधरहित, दक्ष और विज्ञानी (हो)॥ ६॥

टिप्पणी—१ ☞*'एहि आचरन बस्य मैं भाई।'* यहाँतक प्रवृत्ति-मार्गवालोंके आचरण कहे। आगे निवृत्ति-मार्गवालोंके आचरण कहते हैं।

नोट—१ (क) *'बैर न बिग्रह..........'* इति। वैर मनमें होता है और विग्रह कर्म है। (करु०) वैर गाढ़ होता है। इसमें एक-दूसरेको हानि पहुँचानेकी चिन्ता एवं घातमें रहता है। विग्रह=सामान्य झगड़ा। यह शीघ्र मिट जाता है। (पं० रा० व० श०)। (ख) *'आस न त्रासा'* इति। आशाके दास सभीके दास, सभीके गुलाम होते हैं और जो आशारहित है केवल प्रभुका जिसको आशा-भरोसा रहता है वह ही प्रभुका दास और प्रिय है। यथा—*'जे लोलुप भए दास आस के ते सब ही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥'* (वि० १६८) आशासे शोक ही हाथ लगता है, सदा चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता है, उसमें दुःखको छोड़ सुख कहाँ? यथा—'**आशा हि परमं दुःखम्**' *'तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समर्पई बिमुख भए अभिराम॥'* (दो० २५८) इसी तरह (भव) त्राससे दुःख ही होता है। यथा—*'फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका।'* केवल भगवान्‌का भरोसा रहनेसे, प्रभुको ही हृदयमें बसानेसे यह सब दुःख मिट जाते हैं और सर्वत्र सुख-ही-सुख होता है, क्योंकि प्रभु *'आस त्रास इरिषादि*

निवारक' हैं। विनयमें भी कहा है '*तुलसिदासकी त्रास मिटै जब करहु हृदय महँ डेरो।*' (१४३) '*तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।*' (वि० १३७) पुनः '*आस न त्रासा*' से जनाया कि उसे तत्त्वदर्शी होना चाहिये। तत्त्वदर्शी होनेसे मनुष्य इधर-उधर नहीं भटकता, किसी भी बातके लिये प्रभुको छोड़कर किसी भी ओर उसकी दृष्टि न जायगी—'*बनै तो रघुबर ते बनै बिगरै तो भरपूर। तुलसी औरहि ते बनै वा बनिबे में धूर।*' '*जरि जाउ सो जीह जो जाचहि औरहि॥*' भगवान्‌पर ही निर्भर रहे।

२ '*सुखमय ताहि सदा सब आसा*' इति। दुःखके मूल कारण आशा और त्रास ही जब न रहे तब जीव सुखमय हुआ ही चाहे। वैर-विग्रहकी जड़ भी आशा ही है। आशाका त्याग करनेसे भक्त शोभित होता है। यथा—'*बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥*' (४। १६। ९) '*पावै सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै। सपनेहु नहीं सुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै॥*' (वि० १३६) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि इन शब्दोंसे जनाया कि सब दिशाओंसे सब दिक्पाल उसकी सहायता करते हैं।

३ श्रीमद्भागवतमें भी इस चरणसे मिलते हुए '**सर्वाः सुखमया दिशः**' ये शब्द कुछ विशिष्ट भक्तोंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने श्रीउद्धवजीसे कहे हैं। यथा—'**अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥**' (११। १४। १६) अर्थात् अकिञ्चन (सर्वप्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित), जितेन्द्रिय, शान्त, समदर्शी, मेरी ही प्राप्तिसे सदा संतुष्ट रहनेवाले (अर्थात् मेरे सान्निध्यका अनुभव करके सदा पूर्ण संतोषका अनुभव करनेवाले) को सब दिशाएँ आनन्दसे भरी हुई हैं। अतः इस चरणको उपर्युक्त श्लोकका प्रतिरूप समझना चाहिये। अकिञ्चन दान्त और शान्त गुण यहाँ '*बैर न बिग्रह*' से और '**समचेतसः मया सन्तुष्टमनसः**' का भाव '*आस न त्रासा*' से सूचित कर दिया गया है। जैसे मानसमें इस चरणके पश्चात् फिर भी कुछ गुण कहे हैं वैसे ही भागवतमें भी इस श्लोकके बाद भी कुछ कहे हैं।

नोट—४ '*अनारंभ अनिकेत*''''''''''' ' के भाव टीकाकारोंने ये लिखे हैं—(क) '*अनारम्भ*' अर्थात् किसी प्रपञ्चका आरम्भ न करे। (पं० रा० कु०); किसी उद्यमकी चेष्टा नहीं करता। (पां०); किसी पदार्थका आरम्भ नहीं करता, नेम नहीं करता, सहजानन्द भजन करता है अर्थात् सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते मेरे गुण और स्वरूपमें चित्तकी वृत्ति अखंड लगी है।(करु०)। आप कर्ता बनकर शुभाशुभ किसी कर्मको प्रारम्भ नहीं करते। आज हम यह करेंगे ऐसा नहीं कहते, किंतु यही मानते हैं कि जिस कालमें जैसी हरि-इच्छा होगी, वैसा होगा (वै०)। नियम बाँधकर उसका आरम्भ नहीं करते। अवकाश पाकर भजनमें लीन हो जाते हैं। कारण कि आरम्भ तो उस बातका किया जाता है कि जिसका अंत निर्धारित कर फलप्राप्तिकी आशा की गयी हो। जैसे '*एक लक्ष जाप*'। (वि० टी०) संकल्प ही नहीं करते (रा० प्र०)।

प्र० स्वामीका मत है कि 'अनारम्भ' में '*त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक*' का भाव है, 'सकाम कर्मोंका आरम्भ न करना' यही अर्थ उचित है। (ख) '*अनिकेत*' अर्थात् घर नहीं बनाते, क्योंकि घर बनानेसे मोह लग जाता है जो बन्धनका कारण होता है (पं० रा० कु०)। वा, किसी स्थानका ममत्व न होनेसे 'अनिकेत' कहा (पाँ०)। वा, घर नहीं बनाते क्योंकि घर बनानेसे बहुत-सी चिन्ताएँ आ उपस्थित होती हैं, अतः सर्पकी वृत्ति ग्रहण किये रहते हैं। (करु०) वा, भाव कि किसी स्थानको अपना घर नहीं मानते, जहाँ चाहें वहाँ रहें, निर्वाहमात्रसे प्रयोजन है (वै०)। वा, गृहादिकी इच्छा ही नहीं, जैसे लोमशजीने घर ही न बनाया, दत्तात्रेयजीने यही शिक्षा सर्पसे ली कि वह दूसरेके बिलमें ही रहता है (रा० प्र०)।

पं०—रामवल्लभाशरणजी कहते हैं कि '**अनारम्भ अनिकेत**' का मुख्य तात्पर्य आसक्तिशून्य होनेमें है।

गीतामें '**सर्वारम्भपरित्यागी**' और '*अनिकेत*' ये दोनों शब्द उन भक्तोंके सम्बन्धमें आये हैं, जिनको भगवान्‌ने अपना प्रिय कहा है। यथा—'**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥**' (१२। १६। १९)

श्रीमान् तिलकजी 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ लिखते हैं कि 'जिसने काम्यफलके सब आरम्भ यानी

उद्योग छोड़ दिये हैं।' 'अनारम्भ' का अर्थ 'सर्वारम्भपरित्यागी' है। अनिकेतका अर्थ वे लिखते हैं कि 'जिसका कर्मफलाशयरूप ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया' और कहते हैं कि 'यह शब्द उन यतियोंके वर्णनोंमें भी अनेक बार आया करता है कि जो गृहस्थाश्रम छोड़ संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए घूमते फिरते हैं (मनु० ६-२५) और इसका धात्वर्थ 'बिना घरवाला' है। अतः इस अध्यायके 'निर्मम' '**सर्वारम्भपरित्यागी**' और 'अनिकेत' शब्दोंसे तथा अन्यत्र गीतामें '**त्यक्तसर्वपरिग्रहः**' (४। २१) अथवा '**विविक्तसेवी**' इत्यादि। जो शब्द आये हैं उनके आधारसे संन्यास-मार्गवाले टीकाकार कहते हैं कि हमारे मार्गका यह परमध्येय 'घर-द्वार छोड़कर बिना किसी इच्छाके जङ्गलोंमें आयुके दिन बिताना' ही गीतामें प्रतिपाद्य है·········गीतावाक्योंके ये निरे संन्यास-प्रतिपादक अर्थ संन्यास-सम्प्रदायकी दृष्टिसे महत्त्वके हो सकते हैं, किन्तु सच्चे नहीं हैं। क्योंकि गीताके अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना सच्चा संन्यास नहीं है, पीछे कई बार गीताका यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (देखो गी० ५। २ और ६। १। २) कि केवल फलाशाको छोड़ना चाहिये न कि कर्मको। अतः 'अनिकेत' पदका घर-द्वार छोड़ना अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये कि जिसका गीताके कर्मयोगके साथ मेल मिल सके। गीता ४। २० वें श्लोकमें कर्मफलकी आशा न रखनेवाले पुरुषको ही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है और गी० ६। १ में उसी अर्थमें '**अनाश्रितः कर्मफलम्**' शब्द आये हैं। 'आश्रय' और 'निकेत' इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। अतएव 'अनिकेत' का गृहत्यागी अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये कि गृह आदिमें जिसके मनका स्थान फँसा नहीं है। इसी प्रकार '**सर्वारम्भपरित्यागी**' का अर्थ 'सारे कर्म या उद्योगोंको छोड़नेवाला' नहीं करना चाहिये, किन्तु गी० ४। १९ में जो कहा है कि 'जिसके समारम्भ फलाशाविरहित हैं उसके कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं' वैसा ही अर्थ यानी 'काम्य आरम्भ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला' करना चाहिये। यह बात गी० १८। २ और १८। ४८ एवं ४९ से सिद्ध होती है। सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थीमें, बाल-बच्चोंमें, अथवा संसारके अन्यान्य कामोंमें उलझा रहता है, उसीको आगे दुःख होता है। अतएव गीताका इतना ही कहना है कि इन सब बातोंमें चित्तको फँसने न दो। और मनकी इसी वैराग्य स्थितिको प्रकट करनेके लिये गीतामें 'अनिकेत' और '**सर्वारम्भपरित्यागी**' आदि शब्द स्थितप्रज्ञके वर्णनमें आया करते हैं।

अनन्त श्रीस्वामी रामानुजाचार्यके मतानुसार 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ है '**शास्त्रीयव्यतिरिक्तसर्वकर्मारम्भ-परित्यागी**।' अर्थात् जो शास्त्रीय कर्मोंके अतिरिक्त अन्य सभी आरम्भोंका त्यागी है। और गीता ४। २१ के '**त्यक्तसर्वपरिग्रहः**' का अर्थ है 'एकमात्र आत्मामें ही अपना प्रयोजन समझनेके कारण जो प्रकृति और प्राकृत वस्तुओंमें ममतारहित हो गया है। गीता ४। १९ के '**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।**' का अर्थ है—'जिस मुमुक्षु पुरुषके समस्त आरम्भ, अर्थात् द्रव्योपार्जनादि लौकिक कर्मोंसहित नित्य, नैमित्तिक और काम्यरूप सभी कर्म समारम्भ, कामनावर्जित अर्थात् फलासक्तिसे रहित और सङ्कल्पसे भी रहित होते हैं। 'अनिकेत' अर्थात् स्थिरबुद्धि होनेके कारण जो गृह आदिमें अनासक्त हो गया है।

५ अमानी=मानरहित। यथा—'***सबहि मानप्रद आपु अमानी।***' अनघ=निष्पाप। (पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अनघ' से बताया कि पाप न करे। माण्डव्य ऋषि कीटको मारनेके अपराधसे शूलीपर चढ़ाये गये) अरोष=क्रोधरहित। अनघ कहकर उसका कारण 'अरोष' कहा। क्रोध ही पापका मूल है। यथा—'***लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।***' (१। २७७) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वे यह सोचकर क्रोध नहीं करते कि रोष करें तो अपने ही दोषोंपर, दूसरेपर क्यों करें।' 'दक्ष'=वेदशास्त्रतत्त्वमें प्रवीण (करु०)।=सब कामोंको आलस्य छोड़कर करनेवाला (तिलक)।—शास्त्रीय क्रियाके सम्पादनमें समर्थ। (श्रीरामानुजभाष्य) विज्ञानी=अनुभवी।

पं० रा० कु०—विज्ञानी और दक्ष हैं इसीसे अरोष हैं, अरोष होनेसे अनघ हैं। अमानी हैं इसीसे अनारम्भ और अनिकेत हैं।

नोट—'***सब आसा***'=सब दिशाएँ। दसों दिशाओं और उनकी उत्पत्तिपर (१। २८। १) '***नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।***' देखिये।

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। त्रिन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥ ७॥
भगतिपच्छ हठ नहि सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**संसर्ग**=सम्बन्ध, मिलाप, समागम, सङ्ग, घनिष्ठता। **दुष्ट तर्क**=कुतर्क; वेदमतविरुद्ध तर्क। यथा—'**दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयते।**' (श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत साधनपञ्चकस्तोत्र)

अर्थ—सज्जनोंके संसर्गमें सदा प्रेम है अर्थात् सदैव उनसे लगाव रखते हैं, उनके निकट रहते हैं। स्वर्गपर्यन्त सारे विषयसुख और मोक्ष उनको तृण-समान तुच्छ हैं (भाव कि भक्त लोग पाँचों प्रकारकी मुक्तियाँ भी नहीं स्वीकार करते हैं)॥ ७॥ भक्तिके पक्षमें हठ करते हैं, शठता नहीं करते। सब कुतर्कोंको दूर बहा दिया है॥ ८॥

नोट—१ *'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा'* इति। *'आस न त्रासा', 'अनारंभ'*........*'दक्ष बिज्ञानी'* आदि गुण होनेपर शङ्का हो सकती है कि तब तो वह अन्य संतोंकी भी उपेक्षा करता होगा? इसका निराकरण करनेके लिये ही कहते हैं कि सज्जन-संसर्गमें उनका सदा प्रेम रहता है। अपने प्रियसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु प्रेमीको प्रिय लगती ही है। फिर भक्त संत तो अपने प्रियतम प्यारेके रूप ही हैं।

टिप्पणी—१ *'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा'* कहकर *'त्रिन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा'* कहनेमें अभिप्राय यह है कि वे सज्जनोंका सत्सङ्ग-सुख चाहते हैं, इसके आगे स्वर्ग और अपवर्गका सुख तृणवत् मानते हैं, क्योंकि सत्सङ्गसुख उन सुखोंसे अधिक है। ☞ यहाँ परम वैराग्य कहा है। यथा—*'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृनसम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* [सत्सङ्गके फल अपवर्गसे भी वैराग्य कहकर जनाया कि सत्सङ्ग साधन और साध्य दोनों है। इसीसे तो शङ्करजी सत्सङ्ग भी बार-बार माँगते हैं, यथा—*'बार बार बर माँगौं हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सत्संग॥'*]

नोट—२ मानसमें लङ्किनीने श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन और स्पर्श होनेपर सत्सङ्गसे प्राप्त सुखको अपवर्गसुखसे अधिक श्रेष्ठ कहा है। यथा—*'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'* (सुं० ४) ऐसा ही शौनकादि महर्षियोंने भी कहा है। यथा— '**तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।**' (भा० १। १८। १३) (अर्थात्) भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका एक लवमात्रका भी सङ्ग करनेसे जो सुख मिलता है उसके साथ हम स्वर्ग और मोक्षके सुखकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर मर्त्यलोकके सुखोंकी बात ही क्या है।

क्यों सत्सङ्गको मोक्षसुखसे अधिक मानते हैं, इसका कारण उद्धवजीसे कहे हुए भगवान्‌के '**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥**' (भा० ११। १२। १-२) इन वाक्योंमें मिलता है। अर्थात् जगत्‌में जितने भी 'सङ्ग' (आसक्तियाँ) हैं उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग मेरी प्रसन्नताका, मुझे वश कर लेनेका जैसा सफल साधन है वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तप, त्याग, इष्टापूर्त कर्म, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेको समर्थ नहीं हैं। मानसमें भी भगवान्‌के वाक्यों और भुशुण्डीजीके उनपर जो विचार हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है। *'काकभुसुण्डि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि।'* (८३)........' भगवान्‌के इस वाक्यपर भुशुण्डीजी सोच रहे हैं कि *'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥ भगति हीन सुख कवने काजा।* (८४। ४—६) भगवान् प्रायः भक्ति नहीं देते, क्योंकि उससे वे बँध जाते हैं—*'निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति अबसहिं बसकरी।'* (आ० २६) उनके लिये भगवान्‌का वाक्य है कि *'भजहि जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी॥ '* (आ० ४३), '**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।**' (गीता ९। २२) वही भक्ति सत्सङ्गद्वारा प्राप्त हो जाती है और भगवान् वशमें हो जाते हैं। इसीसे तो *'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं।'* और *'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (कि० २६)

भक्तलोग तो भगवान्‌का कैंकर्य चाहते हैं, भक्तिको भक्तिके लिये ही चाहते हैं, जिस मोक्षमें यह सेवा नहीं है उसे वे तुच्छ समझते हैं; यह बात हनुमान्‌जीने भगवान्‌से स्वयं कही है। और भगवान् कपिलदेवने भी इन शब्दोंमें कही है—'**सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥**' (भा० ३। २९। १३) अर्थात् मेरे देनेपर भी मेरे भक्त इन पाँचों मुक्तियोंको ग्रहण नहीं करते। भक्ति प्राप्त होनेपर भी उसकी स्थितिके लिये भी सत्सङ्ग परम आवश्यक है।

मयूख—ऊपर दोहा ३३ में कहा था कि *'संतसंग अपबर्ग कर'''''''''पंथ'* और यहाँ संतसङ्गसे जो अपवर्ग प्राप्त होता है, उससे भी वैराग्य कहते हैं—*'त्रिन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा।'* इसमें विरोधाभास-सा जान पड़ता है। समाधान यह है कि पूर्व-अपवर्गसे श्रेष्ठ मुक्ति अभिप्रेत है और यहाँ अपवर्गसे सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य समझो।

वि० टी०—समाधान यह है कि सत्सङ्ग मुख्य है। उसका परिणाम अपवर्ग होता ही है। सो यदि मूलका ग्रहण किया तो उसके परिणाम पत्ते-पुष्प आदि आप ही प्राप्त होंगे।

करुणासिंधुजी यह अर्थ करते हैं कि 'सज्जनोंमें प्रीति ही उनका संसर्ग अथवा पूर्व संस्कार, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म हैं।' '**तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः। धर्मादयः किमगुणेन च कांक्षितेन सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः॥**' (भा० ७। ६। २५) अर्थात् उन आदिपुरुषके संतुष्ट होनेपर कौन पदार्थ अलभ्य है, गुणपरिणामवश भाग्यक्रमसे स्वयंसिद्ध सब धर्मोंसे क्या फल है? मोक्षवासना ही किसलिये हो जब कि हम निरन्तर उनके नामके कीर्तन एवं श्रीचरणारविन्दके अमृतका पान करते हैं।

सि० ति० कार लिखते हैं कि 'यहाँ भक्तकी भावना कही गयी है कि वे सत्सङ्गके आगे मुक्तिके सुखको तुच्छ मानते हैं, अर्थात् सत्सङ्गसे भक्तलोग श्रीरामजीका स्नेह चाहते हैं, कोई फल नहीं चाहते। उससे जब अन्तमें वे भगवद्धामको ही जाते हैं, तब वही मुक्तिका पद है वह अनायास प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह जीव फिरकर जगत्‌में तो आता नहीं। भक्तिमें किसी फलकी वासनाका रखना ही दोष है, क्योंकि फल चाहनेसे भगवान् और उनकी भक्ति दोनों उस फलके साधन हो जाते हैं, इसीसे कहा है—*'नरक परहु फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ॥'* (दो० ९२)

पं० रा० कु०—*'भगतिपच्छ हठ नहिं सठताई'* इति। जैसे भुशुण्डिजीने शाप सह लिया पर भक्तिपक्ष न छोड़ा। *'दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।'* अर्थात् खराब तर्क सब दूर बहा दे। जिसमें किसीकी निन्दा और खण्डन न हो। इष्टदेवको सबसे परे मानकर हठपूर्वक भक्ति करे, देवान्तर बुद्धि त्यागके इष्टदेवका रूप माने अर्थात् सब देवताओंमें अपने इष्टदेवका रूप देखे।—[*'दुष्टतर्क''''''बहाई'* से जनाया कि अनुकूल तर्क भक्तिपक्षके करे।]

वै०—*'भगतिपच्छ हठ।'* जैसे कि चकोरका चन्द्रपर, चातकका स्वातिबुन्दपर और मीनका जलपर इत्यादि, वैसे ही इष्टोपासनाकी दृढ़ताके लिये अनन्यताका व्रत धारण करना चाहिये।

करु०—*'भगतिपच्छ हठ नहि सठताई'* इति। भाव कि—(१) भक्तिपक्षमें हठ न करनेसे उपासनामें दोष आता है पर दुष्ट तर्क छोड़कर पक्षमें हठ करना चाहिये। (२) यह भी अर्थ हो सकता है कि न हठ चाहिये न शठता, क्योंकि हठ और शठतासे मनमें उद्वेग होता है। ऐसा करनेका प्रयोजन जिसके साथ पड़े उसका संग ही न करे, यह उसका उपाय है। [भुशुण्डीजीका मत प्रथम अर्थका पोषक है, यथा—*'भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप। मुनिदुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥'* (११४) अर्थात् भक्तिपक्षमें हठका यह फल मिला, प्रह्लादजी भी भक्तिमें हठ करते गये।]

रा० प०, रा० प्र०—अपरदेव-निन्दा दुष्टतर्क है। किसीके मतका खण्डन न करो, क्योंकि सब वेदादिहीसे तो निकले हैं, सब वेदोंका ही प्रमाण देते हैं अतः समीकरण ही करे और सबको समान माने। *'काहू मतको जिन तोरौ। जोरि सकौ जेतना जोरौ। मतवारनसे अरज यही''''''''का निर्गुन का सरगुन मतमें रहिहै एकै बात सही। सार भाग सबही को लीजै रससे तजिये छाछ मही। बूसी बाद सार निज करनी बोल गए अस सार गही। देव*

मंत्र दमड़ीके कारन जिन बेचो कहि दही दही॥' [गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि जो कोई भी अन्य देवताओंके भक्त श्रद्धासे युक्त होकर उनको पूजते हैं वे वास्तवमें मेरी ही पूजा करते हैं (क्योंकि सब कुछ मेरे शरीररूपसे मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि शब्द भी मेरे ही वाचक हैं), परंतु यह पूजा अविधिपूर्वक है। यथा— **'येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'** (९। २३) **'आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति'**]।

वि० त्रि०—**'शठ अन्यत्र बद्धभावो यः। दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति।'** मन तो दूसरी वस्तुमें लगा हुआ है, और बाहरसे दूसरी जगह अनुराग दिखलाता है और छिपे-छिपे ऐसा आचरण करता है, जो उसे प्रिय न हो ऐसे पुरुषको शठ कहते हैं। अर्थात् आसक्ति तो है विषयमें बाहरसे रामभक्त बने हुए हैं, और छिपे-छिपे ऐसा आचरण करते हैं, जो रामजीको प्रिय नहीं है, अर्थात् कपट-छल-छिद्रसे काम लेते हैं, यही शठता है। सरकार कहते हैं कि भक्तिपक्षमें हठ होना चाहिये, यथा—**'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'** **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'** जब सब ही वासुदेव हैं, तो मैं भी वासुदेव हूँ। परंतु यहाँपर हठ चाहिये कि ***'मैं तो सेवक हूँ।'*** इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ***'सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत।'*** सबको वासुदेव माननेपर सेवक-सेव्य-भावके हट जानेकी बड़ी सम्भावना है, सो होने न पावे। यहाँ हठ होना चाहिये, पर शठताको स्थान न मिलने पावे। सच्चे मनसे विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें दत्तचित्त हो जावे, छिपे सेवा लेनेका प्रयत्न न करे। आगमके प्रतिकूल तर्कको ही दुष्ट तर्क कहते हैं। इनसे बचा रहे, क्योंकि शुष्क तर्ककी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, आगमानुकूल तर्क ही उपादेय है।

दो०—मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानै परानंद संदोह॥ ४६॥

शब्दार्थ—**संदोह**=राशि, समूह, झुण्ड। **मोह**=कुछ-का-कुछ समझनेवाली बुद्धि; शरीर और सांसारिक पदार्थोंको अपना या सत्य समझनेकी बुद्धि जो दुःखदायिनी मानी जाती है।—***'तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम भेद बुद्धि कब बिसरावहुगे।'*** मोह होनेसे किसीमें अपनपौ मान लेना कि यह मेरा है 'ममत्व' है।

अर्थ—जो मेरे गुणसमूह (चरित) और नाममें लग्न लगाये है, ममता-मद-मोहरहित है। उसका सुख वही जान सकता है। (अर्थात् वह सुख कहा नहीं जा सकता, अनिर्वाच्य है) जो परानन्दराशिको प्राप्त है॥*४६॥

नोट—१ ***'मम गुन ग्राम नाम रत'*** इति। अरण्यकाण्डमें जो भगवान्‌ने कहा है—***'मम लीला रति अति मन माहीं'*** और ***'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥'*** (३। १६) वही 'गुणग्रामरत' का भाव है। ***'मम नाम रत'*** में ***'कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग।'*** (२। २०३) ***'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥'*** (२। ३२६। १) तथा ***'सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥'*** (१। २२) का भाव है।

---

* मिलान कीजिये—'मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः। मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥' (१२) निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः। कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥ (१७)(भा० ११, १४)—भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि हे सभ्य! मुझमें आत्माको अर्पित करनेवाले लोगोंको सब विषयोंकी अपेक्षा छोड़कर आत्मरूप मुझसे जो सुख प्राप्त होता है वह सुख विषयासक्तचित्त व्यक्तियोंको कहाँ मिल सकता है? निष्किञ्चन, मुझमें अनुरक्तचित्त, शान्त, निरभिमान, अशेषजीववत्सल, निष्काम मेरे अनन्य भक्त जिस सुखको भोगते हैं उसे वे ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं जान सकता। क्योंकि जो लोग कुछ भी नहीं चाहते वे ही उस परमानन्दको पाते हैं।

श्लोकोंके 'मय्यर्पितात्मनः' 'मय्यनुरक्तचेतसः' का भाव 'मम गुनग्राम नामरत' 'निरपेक्षस्य सर्वतः' 'निष्किञ्चना' का भाव 'गत ममता' और 'शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः' 'कामैरनालब्धधियः' का 'गत मद मोह' में जना दिया। 'तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्।' 'तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम' का भाव भी 'ताकर सुख सोइ जानै' में है। 'मयात्मना सुखं यत्' 'सुखं मम' का भाव 'परानन्द संदोह' में है। इस प्रकार इस दोहेका प्रतिरूप ही ये श्लोक हैं।

२ (क) *'गत ममता'* से जनाया कि *'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥'* किसीमें ममत्व नहीं रह गया है किन्तु उधरसे ममत्व हटकर एकमात्र मुझमें ममत्व रखता है, वह सब नाते मुझमें ही मानता है। यथा—*'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥'* (५। ४८। ५) *'गुर पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥ '* (३। १६। १०)

(ख) *'गत मद'* इति। इससे समस्त त्रिगुणात्मक विषयोंसे रहित जनाया, क्योंकि विषय-समान दूसरा मद नहीं है। यथा—*'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं॥'* (४। २०। ७) पुनः जाति, विद्या, बड़प्पन, रूप और यौवन आदिका मद। ये भक्तिके बाधक हैं, इसीसे इनका सर्वथा त्याग भक्तके लिये कहा गया है। यथा—**'जाति विद्या महत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन परिवर्जेयात्पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥'**

(ग) *'गत मोह'* कहा क्योंकि यही सब मानसरोगोंका मूल है। यथा—*'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (१२१। २९) काम, क्रोध, ममता आदि सबका कारण यही है। मोह होनेसे स्वरूपका ज्ञान नष्ट हो जाता है, देहमें अहंबुद्धि आ जाती है। भेद-बुद्धि इसीसे होती है, *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'* यह दृष्टि नहीं रह जाती। यह बड़ा प्रबल है। यह *'मुनि बिग्यान धाम मन करहि निमिष महु छोभ।'*

(घ) *'मम गुन ग्राम नाम रत……'* से जनाया कि मैं सदा ऐसे भक्तके वशमें रहता हूँ। यथा—*'मम लीला रति अति मन माहीं।……काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥'* (३। १६)

'गत ममता मद मोह' से जनाया कि वे सर्वत्र मुझको ही देखते हैं और मेरे चरणोंके दृढ़ अनुरागी हैं। यथा—*'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'* (६१) *'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (११२) *'गत ममता'* से यह भी जनाया कि वह मुझमें ही सबको देखता है (*'सब मो कहँ जानइ'*)। इस प्रकार इन शब्दोंमें गीताके **'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति॥'** (६। ३०) का भाव भी जना दिया और यह भी जनाया कि वह सदा मेरे हृदयमें बसता है। यथा—*'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥' 'सम दरसी इच्छा कछु नाहीं।……अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥'* (५। ४८) इस तरह **'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।'** (गीता ६। ३०) का भी भाव आ गया कि उसके लिये न तो मैं अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिये अदृश्य होता है।

'मम गुन ग्राम नाम रत' कहकर *'गत ममता मद मोह'* कहनेका भाव कि गुणग्राम और नाममें अनुरक्त होनेसे ममता-मद-मोह स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, वह इनसे रहित हो जाता है। यथा—*'सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥' 'फिरत सनेह मगन सुख अपने।'* (१। २५। ७-८)

पं० रा० व० श०—१ *'मम गुन ग्राम……'* इति। जो भक्त इन सुलक्षणोंसे युक्त हो जिनका इस दोहेमें वर्णन है वह परानंदसंदोह है, फिर वह सांसारिक सुखकी ओर कभी नहीं जा सकता। देह, परिवार, प्राण, धन इत्यादि संसारके पदार्थोंमें ममता न हो। जाति विद्यादि मदोंसे रहित हो। ये मद बड़े प्रबल हैं। जो इनसे भर जाता है, वह ईश्वरसहित सज्जनोंका अपमान करता है। भागवतमें भगवान्का वाक्य है कि संसारममत्व महीन धागा है, उसे टूटते देर नहीं लगती, वह अनित्य है, यदि वह सब ममता ताग बटकर प्रभुके चरणमें लगा दिया जावे तो दृढ़ हो जाय। मोहरहित हो। कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान जिसमें कुछ न सूझे वह मोह है। जब *'सबकी ममताताग'* बटोरकर वह मद-ममता-रहित होगा तब दो ही काम रह जायँगे, एक तो चरित, दूसरा नाम। चरितसे मन उपराम हुआ तब नाम रटने लगे, नामसे हटे तो चरितमें लग गये; बस इन्हीं दोमें रत रहते हैं। २—विषयानन्दसे लेकर ब्रह्मानन्दतक जितने आनन्द हैं उनमें ब्रह्मानन्द सबसे उत्तम है। इस ब्रह्मानन्दसे भी परे 'परानन्द' है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो सनकादिक तो *'ब्रह्मानन्द सदा लय लीना'* हैं। वे उसे छोड़कर चरित क्यों सुनते? यह सुख परानंदका समूह है। ३—दोहेमें कही हुई दशा ब्राह्मीस्थिति है।

रा० शं०—*'मम गुन ग्राम'''''''''* ' यथा—*'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला'* क्योंकि *'तजि मम चरन सनेह प्रिय तिन्ह कहँ देह न गेह।'* जब देहका ममत्व नहीं तब उसके सम्बन्धियोंका ममत्व कैसा।—[वै०—ऊपर जो गुण कह आये उनकी प्राप्ति साधनसे दुर्घट है और प्रभु भक्तिपथको 'सुलभ' कह चुके हैं, अतः अब वे बतलाते हैं कि वे गुण कैसे प्राप्त हो सकते हैं—*'मम गुन ग्राम नाम रत'* होनेसे। इससे ममतादिसे रहित हो जायगा]।

पं० रा० कु०—**परानन्द संदोह** =सबसे परे जो आनन्द है उसका पात्र है। अर्थात् पूर्णानन्दको प्राप्त है। उस सुखके आगे ब्रह्मादि शिवादिका सुख एक कण है, यथा—*'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥'* (८८) *'जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥' 'ताकर सुख सोइ जानइ'* का भाव कि *'गुन ग्राम नाम रत'''''''* ' ऐसे उत्कृष्ट आनन्दमें जो मग्न है वही जानता है। दूसरा उसे नहीं जान सकता।

बाबा जयरामदासजी दीन—'मम' शब्दसे रूपका (*मम दरसन फल परम अनूपा*), 'गुन' से गुणानुवाद, लीलाका, 'ग्राम' से धामका एवं 'नाम' से नामका ग्रहण करके श्रीप्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम चारोंमें भी रत होनेका अर्थ किया जा सकता है। परानंद जो ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर उसके समूहको श्रीभगवद्भक्तिका तौल बताया गया है।

सि० ति०—ममतारहित होनेमें स्थूलशरीरकी शुद्धि; मदरहित होनेमें सूक्ष्मशरीरकी शुद्धि और मोहरहित होनेमें कारण शरीरकी शुद्धि जाननी चाहिये।

सुनत सुधासम बचन रामके। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के॥ १॥
जननि जनक गुर बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान ते प्यारे॥ २॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके अमृतसमान वचन सुनकर सबने उन दयाधामके चरण पकड़े (और बोले—)॥ १॥ हे कृपासिंधु! आप हमारे माता, पिता, गुरु, भाई, बन्धुवर्ग और प्राणसे प्रिय हैं॥ २॥ हे श्रीराम! आप हमारे तन, धन, धाम सभी प्रकारसे हितकारी और शरणागतके दुःखके हरनेवाले हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ *'सुनहु सकल पुरजन मम बानी'* ४३ (२) उपक्रम है और *'सुनत सुधा-सम बचन रामके'* उपसंहार है। किसीके वचन हितकर तो होते हैं पर कठोर होते हैं और श्रीरामजीके वचन हितकर भी हैं और मधुर भी। अतः *'सुधासम'* कहा। [पुनः 'सुधासम' का भाव कि इन वचनोंसे तृप्ति नहीं होती, चाहते हैं कि सुनते ही रहें। यथा—*'प्रभुबचनामृत सुनि न अघाऊँ॥'* (८८। २) *'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन्ह पुटन्हि मन पान करि नहि अघात मति धीर॥'* (५२)] कृपा करके उपदेश किया। अतः कृपाधाम कहा। ['कृपाधाम' क्योंकि पुरवासी अपनेसे न आये थे और न उन्होंने कोई प्रश्न ही किया था। प्रभुने उनको स्वयं बुलाया और परमार्थका उपदेश किया; ऐसी कृपा और ममत्व सबपर है। (पं० रा० व० श०)] (ख) *'गहे सबनि पद'* कि हमको इन्हींका आधार है—[उपदेश सुनकर प्रणाम करना इत्यादि कृतज्ञता, कृतकृत्यता सूचित करता है। जैसा कि आगेके *'अस सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ'* इन वचनोंसे स्पष्ट है। पुनः *'गहे सबनि'* यह रहस्य भी है अथवा एक-एक करके सबने ऐसा किया। सब कृतज्ञ हैं, सब अपनेको कृतार्थ मानते हैं, सबने उपदेश ग्रहण किया। यह बात 'गहे' पदसे जनायी। अथवा *'गहे पद'* का अर्थ प्रणाम किया जो जहाँ है वहींसे यह कर सकता है]। (ग) जननि-जनकादि सब गौरवके अनुसार क्रमसे कहे गये हैं।

नोट—१ **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥'** इस पाण्डवगीताके परम प्रसिद्ध श्लोकका सविस्तार भाव पुरजनोंके वचनोंमें है। *'जननि जनक''''''''* ।' माता सबसे अधिक है, बच्चा प्रथम माको ही जानता है, उसके मुखसे पहले 'मा' ही निकलता है। माताके बाद पिताको जानता है तब गुरुको जो विद्यादि संस्कार कराता है, इत्यादि। अतः

उसी क्रमसे कहा। माता-पिता इत्यादि सब राम ही हैं, वे ही सब भाँति स्नेही हैं। यही उपदेश सुमित्रा अम्बाजीका लक्ष्मणजीको है—अ० ७४ (२-६) देखिये।

पुरजनकी मन, वचन, कर्मसे कृतज्ञता दिखायी है। *'प्रेमरस साने'* मन, *'जननि जनक'* इत्यादि (वचन) और *'पद गहे'* (कर्म)।

पं० रा० कु०—इस अर्धालीका अर्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके अनुसार दो प्रकारसे होता है। (क) प्रवृत्तिके अनुसार अर्थ है कि—'अपने माता, पिता, गुरु, भाई, इन सबको हम आपहीके समान वा आपके ही ये हैं इस प्रकार समझकर मानते हैं। (ख) निवृत्तिमार्गके अनुसार अर्थ है कि हमारे ये सब आप ही हैं।

गौड़जी—पुरजन सभी तरहके हैं, बालक-बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष, सबका प्रभुसे अलग-अलग नाता है। प्रभुने प्रभुताका बिलकुल विचार न करके सबको भाई करके सम्बोधन किया और अपने राज्यकी दृढ़ताके लिये राजनीतिका कोई उपदेश नहीं किया बल्कि परमार्थका उपदेश किया। इस लोक और परलोक दोनोंके सुखका पुरवासियोंके लिये तो बीमा हो चुका था और मर्त्यलोकी अयोध्याको तो कतई तौरपर बिलकुल वीरान करके चारों खानियोंके समस्त प्राणियोंको लेकर त्रिपाद-विभूतिवाली अयोध्याको बसाना था। इसलिये यह उपदेश तो जगत्‌के लिये किया था। फिर भी जगत्‌के समक्ष एक धार्मिक राजाका आदर्श रखना था, प्रजा राजाकी संतान है और संतानका ऐहिक और पारलौकिक सभी तरहके सौख्यका पूरा प्रबन्ध कर देना प्रजापतिका परम कर्तव्य है। इस उपदेशद्वारा इसी कर्तव्यका पालन हुआ है। जीवन्मुक्त प्रजा भगवत्‌के इन अमृतमय वचनोंसे कृतकृत्य हो गयी। सबने कृतज्ञताके अतिरेकमें प्रभुको दंडवत् किये और कहने लगे कि आप हमारे माता-पिता हैं, हमारे गुरु हैं, हमारे बन्धु हैं, हमारे प्राणोंसे प्यारे कृपानिधान हैं, हमारे परमार्थके लिये आपके सिवा कौन ऐसी सुन्दर शिक्षा दे सकता है। यहाँ शुद्ध माधुर्यभाव है। पार्षदोंका प्रभुसे पारिवारिक सम्बन्ध है। कोई एक नाता मानता है, कोई दूसरा। अयोध्यावासियोंका न प्रवृत्तिमार्ग है न निवृत्तिमार्ग है। लीलामय पुरुषोत्तमके सगुणरूपके साथ शाश्वत निवास करनेवाले प्रभुकी इच्छासे, लीलासे प्रवृत्ति और निवृत्ति करते रहते हैं। वह जगत्‌में सदा प्रवृत्त हैं; क्योंकि प्रभु प्रवृत्त हैं, सदा निवृत्त हैं क्योंकि प्रभु निवृत्त हैं। जो संसारचक्रमें पड़े हुए *'फिरत सदा माया के प्रेरे। काल कर्म सुभाव गुन घेरे॥'* हैं, उनके लिये प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग है और यमराजके यहाँ उनका लेखा-जोखा रहता है। इन पुरजनोंके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं आता।

रा० प्र०—*'तन धन धाम'* =तन, धन, धामके सब रीतिसे हितकारी।

नोट—भगवान् श्रीकृष्णके द्वारकामें प्रवेश करनेके समय प्रजाके वचनोंसे मिलान कीजिये—

'भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता।

त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥'(भा० १। ११। ७)

अर्थात् हे विश्वभावन! आप हमारा कल्याण करें। आप ही हमारे माता, पिता, मित्र, स्वामी, सद्गुरु और परमपूज्य हैं, आपके ही अनुगत होनेसे हम कृतार्थ हैं।

पं० रा० व० श०—*'जननि जनक'* उत्पन्न, पालन, पोषण और योगक्षेम करनेवाले हैं, गुरु परलोकके हितकर्ता और भाई संकटके सहायक—*'होहिं सुबंधु कुठायँ सहाए।'* आप अकेले सबके समान हितकारी हैं। ये सब एक-ही-एक विधिसे हितकारी हैं आप सब विधिसे हैं, यही आगे कह रहे हैं।

नोट—*'जननि जनक गुर बंधु हमारे।'''''''सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी॥'* इति। महाभारतमें कहा है कि मनुने गुणोंकी दृष्टिसे राजाको माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुबेर और यमरूप बताया है। वह प्रजाका पालन करता है और दीन-दुःखियोंकी भी सुध लेता रहता है, इसलिये माताके समान है। प्रजापर प्रेम रखनेके कारण वह राष्ट्रका पिता है। प्रजाका अनिष्ट करनेवालोंको अग्नि-समान जलाता है। यमराजके समान दुष्टोंका दमन करता है। प्रीतिभाजनोंको धन देनेसे कुबेर है। धर्मोपदेश देनेसे गुरु और रक्षा करनेके कारण रक्षक है। जो अच्छी तरह रक्षा नहीं करता वह तो चोरके समान है। (संक्षिप्त महाभारत कल्याण पृष्ठ १२६२)।

भीष्मपितामहजी कहते हैं कि राजा समय-समयपर अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुबेर, यम—इन पाँच देवताओंका रूप धारण करता है। जिस समय छद्मवेष धारण करके प्रजाको कष्ट पहुँचानेवाले दुष्ट पुरुषोंको अपने उग्र तेजसे दग्ध करता है, उस समय अग्निरूप है। जब वह गुप्तचररूपी नेत्रोंके द्वारा सब प्रजाकी प्रवृत्तिको देखता है और उसके कल्याणका प्रयत्न करता है तो सूर्य हो जाता है। जब वह क्रोधमें भरकर सैकड़ों पापी पुरुषोंको उनके पुत्र-पौत्र और सलाहकारोंसहित मारने लगता है तो वह मृत्युके समान हो जाता है। जब कठोर दण्ड देकर अधर्मियोंका दमन करता है और धर्मात्माओंके प्रति दयाभाव प्रदर्शित करता है तब यमराज जान पड़ता है। उपकारियोंको धनादि देने तथा अपकारियोंका धन छीननेके समय कुबेररूप है। (पृष्ठ १२०२)। उपर्युक्त उद्धरणके अग्नि, कुबेर, यम, सूर्य आदि जो कहे गये हैं वे भी यहाँ पुरजनोंके *'सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी'* में आ जाते हैं। इस तरह माधुर्यमें राजा होनेमात्रसे भी श्रीरामजी माता, पिता, गुरु आदि सभी हैं और अब तो वे सब जान गये कि ये परमात्मा ही हैं, जो हमारे राजा हैं तब तो वे यथार्थ ही सब कुछ हैं।

असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥ ४॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ ५॥

अर्थ—ऐसी शिक्षा आपके सिवा कोई नहीं देता। माता-पिता (शिक्षा देनेवाले) हैं पर वे भी स्वार्थमें लगे हैं (तब दूसरोंका क्या कहना!)॥ ४॥ हे असुरारी! जगत्‌में (दोनों लोकोंके) बिना प्रयोजन ही उपकार करनेवाले दो ही हैं—एक आप, दूसरे आपके भक्त॥ ५॥

नोट—१ (क) *'असि सिख''''''''''कोऊ'* से जनाया कि आपके उपदेशमें अपने स्वार्थका लेश भी नहीं है, आपकी यह दया निःस्वार्थ हमपर हुई है। इससे यह भी सूचित कर दिया कि पुरवासी अब सब जान गये कि श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं, यह आगेके *'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* से निश्चय ही स्पष्ट है। इसमें भा० ४। २१ के **'अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो। भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः॥ ५१॥'** का भाव भी ले सकते हैं। पृथुमहाराजकी प्रजाने उपदेश सुनकर ये वचन कहे थे कि हमलोग दैव नामक प्रारब्ध कर्मके कारण विवेकहीन होकर भटक रहे थे, सो आज आपने हमें इस अज्ञानान्धकारसे पार कर दिया। (ख) *'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ'* इति। हमारे पुत्र, पोते, नाती, पनाती हमें नरकसे बचा लेंगे, हमें पिण्ड देंगे इत्यादि, माता-पिता-पितृका स्वार्थ है। जरत्कारु ऋषिके पितृ इसीसे उन्हें भजन करनेमें बाधक होते थे। सब स्वारथरत, यथा—*'अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनाएउ। काके भये गए संग काके सब सनेह छल छायो॥'* (वि० २००) *मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिं॥'* (९९। ८) *'गृह बनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो। जाते निरय निकाय निरंतर सो इन्ह तोहि सिखाएउ। तव हित होइ कटहिं भवबंधन सो मगु तो न बताएउ॥'* (वि० १९९) *'नाहिंन नाथ अकारन को हितु तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो। जननि जनक सुत दार बंधु जन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो॥ सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहू नहिं हरिभजन सिखाएउ॥'* (वि० २४३)

टिप्पणी—१ *'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ'* इति। भाव कि संसारी नातोंमें ये (सबसे बड़े) हितकारी हैं, पर आपके समान शिक्षा ये भी नहीं देते (क्योंकि इनमें भी स्वार्थ लगा है कि बड़ा हो, हमको सुख दे)। अथवा 'ओऊ' से गुरु और बंधुको ले लें जिनको ऊपर *'जननि जनक'* के साथ गिना आये। अर्थात् माता, पिता, गुरु और बन्धु ये सब स्वार्थ चाहते हैं; इसीसे आपके समान उपदेश नहीं दे सकते।

नोट—२ गुरु स्वारथी होते हैं—पुरजनोंका अभिप्राय यह कदापि नहीं हो सकता क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* गुरु आपके सेवक हैं। भगवत्-सम्मुख करनेसे शिष्यके लिये गुरुको भगवान्‌से भी अधिक कहा गया है और भगवान्‌में और गुरुमें अभेद सर्वशास्त्रमत है। देखिये वाल्मीकिजीने कहा है—*'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं*

सनमानी॥'''''''''तिन्हके मनमंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥' (२। १२९) और श्रीरामजीने श्रीशबरीजीसे नवधाभक्ति जो कही है उसमें कहा है कि *'गुरु पदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान।'* (३। ३५) और कहा है कि इनमेंसे जिसमें एक भी भक्ति हो वह मुझे अतिशय प्रिय है। तब गुरुकी गणना स्वार्थीमें कैसे हो सकती है? वे तो परमार्थी हैं, परमार्थका ही उपदेश देते और उसीमें लगाते हैं। भगवान्‌को गुरुसे भी अधिक हितकारी कह सकते हैं, क्योंकि भगवान् लोक-परलोक सभी प्रकारके हितकर हैं और गुरु परलोकके ही हितकारी हैं, पर गुरुको *'स्वारथ रत'* नहीं कह सकते। यह उपदेश श्रीरामराज्यके समयका है। त्रेतामें रामराज्यमें 'गुरु' स्वार्थी होते थे, यह कहना विशेषतः ठीक नहीं। कलियुगमें भले ही *'लोभी गुरू लालची चेला'* विशेष हो जायँ। आजकल पाश्चात्य पिशाची शिक्षा पाये हुए लोग प्रायः 'गुरु' नामसे चिढ़ते हैं, उन्हें सर्वत्र लोभी ही गुरु देख पड़ते हैं इसीसे वे न गुरु कर सकें और न उनका कल्याण हो। वे गुरुमें लोभ नहीं चाहते पर स्वयं लोभी शिष्य बने रहना चाहते हैं। जिसने गुरुको सर्वस्व अर्पण न कर दिया वह शिष्य ही कैसा? बिना इसके वह कपट करके क्या परलोक सुधार सकता है? गुरु आज भी ऐसे अनेक हैं कि जो शिष्यको खिला-पिला देते हैं, उसका कल्याण ही करते हैं और कभी उससे एक कौड़ी नहीं चाहते। भक्तमालमें श्रीकृष्णदास पयहारीजी, श्रीगोकुलनाथजी इत्यादि और आज भी महाराज श्री १०८ रामशरणमौनी बाबा रामघाट और पं० श्री १०८ रामवल्लभाशरणजी जानकीघाट (श्रीअयोध्या) इत्यादि इसके उदाहरण हैं। भगवान्‌के सम्मुख करनेवालेको हम सर्वस्व भी देकर उससे उऋण नहीं हो सकते।

उपमेयमें उपमानसे अधिक गुणवर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है।

टिप्पणी—२ *'हेतुरहित जग''''''''''* इति। (क) [श्रीरामजी पूर्णकाम हैं। ***'सब प्रकार प्रभु पूरनकामा।'*** (५। २७। ३), *'तुम्ह परिपूरन काम जानसिरोमनि भाव प्रिय।'* (१। ३३६), *'पूरन काम राम परितोषे।'* (१। ३४२। ६) स्वार्थ तभी होता है जब कोई कामना होती है। जो पूर्णकाम है उसमें कोई स्वार्थ हो ही नहीं सकता।] *'हेतुरहित''''''''''* का अभिप्राय यह है कि माता-पितादि सब स्वार्थसे हितकारी हैं और आप हेतुरहित सब प्रकारसे दुःखके हरण करनेवाले हैं। [भगवान्‌के भक्त भी निष्काम होते हैं, वे निःस्वार्थ परोपकार करते हैं यह उनका लक्षण है, उनका सहज स्वभाव है। यथा—***'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'*** (१२१। १४), ***'बिगत काम मम नाम परायन।'*** (३८। ५), ***'षट बिकार जित अनघ अकामा।'*** (३। ४५। ७), ***'हेतु रहित परहित रत सीला।'*** (३। ४६। ७), ***'पूरनकाम राम अनुरागी।'*** (१२५। ६), (भुशुण्डिजी), ***'हरि जन इव परिहरि सब आसा।'*** (४। १६। ९) प० पु० पातालखण्डमें श्रीअम्बरीषजीके भी ऐसे ही वचन हैं। वे कहते हैं—'**भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्। बालानां च यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्॥ भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव ही साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥**' (८४। २५, २६) (अर्थात्) भगवन्! आपकी यात्रा सम्पूर्ण प्राणियोंका मंगल करनेके लिये होती है। जैसे माता-पिताका प्रत्येक विधान बालकोंके हितके लिये ही होता है वैसे ही भगवान्‌के पथपर चलनेवाले महात्माओंकी प्रत्येक क्रिया जीवोंके कल्याणके लिये होती है। देवताओंका चरित्र कभी दुःखका कारण होता है, कभी सुखका; किन्तु आप-जैसे सन्तोंका प्रत्येक कार्य जीवोंके सुखका ही साधक होता है। (ख) *'असुरारी'* सम्बोधनका भाव कि आप असुरोंको मारकर जगत्‌का उपकार करते हैं, जैसे बाघके मारनेसे गौ आदि समस्त जीवोंका उपकार होता है। और आपके सेवक अन्तःकरणके शत्रुओंको जीतकर जगत्‌का हित करते हैं।

करु०—असुरारीका भाव कि काम-क्रोधादि परमार्थके विरोधी असुर हैं, आप इनका नाश करके परमार्थकी रक्षा करते हैं।

नोट—अन्तःकरणके शत्रु काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार आदिका मेघनादादि असुरोंसे रूपक विनयके निम्न पद ५८ में विस्तारसे दिया गया है। यथा—

देव! देहि अवलंब करकमल कमलारमन दमन दुख समन संताप भारी।
अज्ञान राकेस ग्रासन बिधुंतुद गर्ब-काम-करिमत्त हरि दूषनारी॥ १॥
बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंकादुर्ग रचित मन दनुज भयरूपधारी।
बिबिध कोसौघ अति रुचिर मंदिर निकर सत्वगुन प्रमुख त्रयकटककारी॥ २॥
कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प बीची बिकारं॥ ३॥
मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्राम हारी।
लोभ अतिकाय मत्सर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी॥ ४॥
द्वेष-दुर्मुख दंभ-खर अकंपन-कपट मनुजाद मद सूलपानी।
अमित बल परम दुर्जय निसाचर निकर सहित षडवर्ग गोयातुधानी॥ ५॥
जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम जम सकल सुरलोक लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता॥ ६॥
ज्ञान-अवधेस गृहगेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभारहर्त्ता।
भक्त संकष्टमवलोक्य पितुवाक्य कृत गवन किय गहन बैदेहिभर्त्ता॥ ७॥
मुक्तिसाधन अखिल भालु मर्कट बिपुल ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय बिषय-बन-भवनमिव धूमकेतू॥ ८॥
दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दासहित विश्वदुखहरन बोधैकरासी।
अनुज नित जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदयकमल बासी॥ ९॥

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं॥ ६॥
सब के बचन प्रेमरस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥ ७॥
निज* निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥ ८॥

अर्थ—संसारमें सब स्वार्थके मित्र हैं। हे प्रभु! परमार्थ (जाग्रत्‌की कौन कहे) स्वप्नमें भी नहीं है। (अर्थात् परमार्थ उपदेश कोई नहीं करता। परमार्थके करनेवाले एकमात्र आप ही हैं)॥ ६॥ सबके प्रेमरसमें सने हुए अर्थात् प्रेममय वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी हृदयमें प्रसन्न हुए॥ ७॥ आज्ञा पाकर सब प्रभुकी सुन्दर वाणीको वर्णन करते हुए अपने-अपने घर गये॥ ८॥

नोट—१ *'स्वारथ मीत सकल………'* का भाव भागवत (१०। ४७। ६—८) तथा (३। ३०। १३) में खूब वर्णित है। गोपियाँ उद्धवजीसे कह रही हैं कि **'अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्। पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनःस्विव षट्पदैः॥ निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः। अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्। खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्। दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्।'** बन्धुओंके सिवा अन्य लोगोंसे जो मित्रता की जाती है वह किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही की जाती है। सर्वार्थसिद्धि जबतक नहीं होती तबतक मित्रताका अनुकरणमात्र किया जाता है, कार्य हो जानेपर उसका अन्त हो जाता है। स्त्रियोंसे पुरुषोंकी मित्रता और भ्रमरोंका फूलोंपर अनुराग-ऐसी ही स्वार्थ-मित्रताका उदाहरण है। मनुष्यके निर्धन होनेपर वेश्या उस मनुष्यको, असमर्थ होनेपर प्रजा राजाको, विद्या प्राप्त होनेपर विद्यार्थी आचार्यको, दक्षिणा पा जानेपर ऋत्विक् लोग यजमानको, फल न रहनेपर पक्षी वृक्षको, भोजन

* निज गृह गये सुआयसु पाई—(ना० प्र०)। आइसु—(भा० दा०)।

कर चुकनेपर अतिथि उस घरको, वनके जल जानेपर मृग उस वनको और भोग करनेपर जारलोग अतृप्त एवं अनुरक्त स्त्रियोंको छोड़ देते हैं—संसारमें ऐसी स्वार्थ-मैत्री देखी जाती है (भा० १०। ४७। ६—८)। (भा. ३। ३०। १३) में कपिल भगवान् कहते हैं कि जब प्राणी कुटुम्बपालनमें असमर्थ हो जाता है तब उसके घरवाले स्त्री-पुत्रादि पहलेके समान उसका आदर नहीं करते। यथा—'**एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा। नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम्॥**' स्नेहमें बँधे हुए भाई, स्त्री, माता, पिता और सम्बन्धी भी कौड़ीके कारण उस पुराने प्रेमबन्धनको तोड़कर शत्रु बन जाते हैं। यथा—'**भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा। एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥**' (भा० ११। २३। २०)

२—ऊपर 'जननी-जनक' को स्वार्थी कहा, अब संसारभरमें स्वार्थकी ही मित्रता कहते हैं। इसमें परिवारके बाहरके सभी आ गये, देवता भी आ गये। यथा—'***चारिहुँ बिलोचनु बिलोकु तू तिलोकु महँ, तेरो तिहुँकाल कहु को है हित हरि सों। नये नये नेह अनुभये देह-गेह बसि, परिख प्रपंची प्रेम परत उघरि सो। सुहृद समाज दगाबाजिहि को सौदा सूतु, जब जाको काज मिलै पाँय परि सो। बिबुध सयाने पहिचाने कैधों नाहीं नीके, देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो॥***' (वि० २६४) '***दूसरो भरोसो नाहिं बासना उपासन की, बासव बिरंचि सुर नर मुनिगन की। स्वारथके साथी हाथी स्वान लेवा देई काहू तो न हरी पीर रघुबीर दीन जन की॥***' (वि० ४७) '***तन साथी सब स्वारथी सुर ब्यवहार सुजान॥***' (वि० १९१) '***दै-दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत। स्वारथहित भूतल भरे मन मेचक तनु सेत॥***' (वि० १९०) '***सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥***' (४। १२। २) प० पु० पाता० ८४ में भी कहा है—'**भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्। छायेव कर्मसचिवाः**'—२७। देवता सेवाके अनुकूल ही सुख देते हैं।

रा० प्र०—'*सभी कोई मतलबहीके यार नाहीं त करत बिगार। भानु कमलसे प्रेम सही पै जब लगि वह गुलजार। टूटे पर रबि छार करत है पानिउ करत बिकार॥ १॥ जीव परमप्रिय देहहु को लखि खलित लाचार। त्यागन चाहत पुनि पुनि तनको जीव होत रखवार॥*'

वि० त्रि०—'***सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥***' (४। १२। २) '***जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥***' (९५। ८) यही संसारकी रीति है। स्वार्थका ही व्यापार संसारमें चलता है। मित्र परोपकारी होते हैं, एक-दूसरेका स्वार्थ-साधन करते हैं, परंतु परमार्थ-साधनकी मित्रता कहीं दिखायी नहीं पड़ती। जाग्रत्‌का संस्कार ही स्वप्नरूपसे प्रत्यक्ष होता है, अतः परमार्थ-साधनकी मित्रताका कोई स्वप्न भी नहीं देखता। बल्कि परमार्थ-साधनकी ओर जाते हुए मनुष्यको उसके हितचिन्तक रोकते हैं, समझते हैं कि यह हमारे लिये बेकार हुआ चाहता है। पिता-माता तो सच्चे हितचिन्तक हैं, पर परमार्थकी ओर पुत्रको जाते देखकर बड़े भारी बाधक वे ही होते हैं, क्योंकि उन्हें सन्ततिसे बड़ी भारी आशा रहती है। '*मानुषा मनुजव्याघ्र साभिलाषाः सुतान् प्रति।*' और सरकार हम लोगोंको भक्तिकी शिक्षा देते हैं, जिससे दोनों लोक बनें, अतः सरकार ही हमारे जननी-जनक-गुरु और बन्धु हैं।

टिप्पणी—१ '***परमारथ नाहीं***' यथा—'***धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं***' —(अ० ९२ देखिये)। २—'***हृदय हरषाने।***'—हर्षित हुए कि सबोंने हमारी आज्ञा मानी, क्योंकि वे प्रथम ही कह चुके थे कि '***सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥***' ३—'***निज-निज गृह गए***' इस कथनसे पाया गया कि घरमें, घरके पदार्थोंमें चित्त लगा होगा। उसीपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उनका चित्त तो प्रभुकी वाणीमें लगा हुआ है इसीसे वे उसीको कहते जाते हैं। दूसरे, वे रामजीकी आज्ञा पानेपर घर गये, उन्होंने स्वयं आज्ञा नहीं माँगी। क्योंकि अवधवासियोंके धाम तो राम ही हैं, यथा—'***तन धन धाम राम हितकारी।***'*

रा० शं०—१ श्रीरामजीने कहा था, '***सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई।***' पुरवासियोंने चरणोंमें प्रणाम किया

* पं०—यहाँ निजसे नित्यका अर्थ लेना होगा। उपदेश पाकर सब मुक्त हो गये। नित्यधाममें पहुँच गये। वही बात दोहेमें आगे कहते हैं।

और कृतज्ञता प्रकट की, इससे सूचित हुआ कि उन्होंने श्रद्धापूर्वक उपदेशको सुना और वह उनको सुहाया, अतः कहा कि *'बरनत प्रभु बतकही सुहाई'* चले। इसमें 'श्रवण' कहा। कथा सुननेके पीछे अनुकथन होता है यही यहाँ *'बरनत'* से जनाया। इसमें अनुमोदन कहा। पुनः *'बरनत'* जिसमें भूल न जायँ। ऐसा उत्तम उपदेश भुलाने योग्य नहीं। २—आज्ञासे आये थे और आज्ञासे गये।

पं० रा० व० श०—वचनोंके मर्मको समझकर उनपर स्थित हो गये, उनका आदर किया, उपदेश यथार्थ फलीभूत हुआ—यह देखकर हर्ष हुआ। जहाँ अच्छा उपदेश है वहीं-वहीं *'बतकही'* पदका प्रयोग है, अतः *'बतकही'* को *'सुहाई'* कहा।—बा० ९ (२) देखिये।

प० प० प्र०—यह छब्बीसवीं स्तुति है और पूर्वाभाद्रपदा २६ वाँ नक्षत्र है। दोनोंमें साम्य इस प्रकार है-(१) नाम-साम्य। यह स्तुति मोक्षदायक है और भाद्रपदका अर्थ भी भद्रपद देनेवाली है। पुरजनोंमें श्रीवसिष्ठजी भी हैं जो पुरजनोंसे श्रेष्ठ हैं। अतः इसके आगेकी वसिष्ठकृत स्तुति उत्तरभाद्रपदा है। (२) आकर-साम्य। पूर्व और उत्तरा दोनों मिलकर चारपाईके आकारके हैं। यहाँ राम और रामसेवक उसके दो पाये हैं। (३) तारा-संख्या। इस नक्षत्रमें दो तारे हैं और स्तुतिमें *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी'* अर्थात् श्रीराम और रामसेवक ही दो तारे हैं। (४) नक्षत्रका देवता 'अजैकपाद' है। अजैकपाद एकादश रुद्रोंमेंसे एक है, वह शिवजीका ही स्वरूप है। और इस स्तुतिके कथाके वक्ता श्रीशिवजी ही हैं, यह *'उमा अवधबासी नर.........'* से स्पष्ट है। (५) फलश्रुति। नक्षत्रकी फलश्रुति *'सेवक मनमानस मराल से'* है। जब इस स्तुतिके अनुसार भगवान् और संतों (युग उपकारी) के सिवा किसी दूसरेका भरोसा न रह जायगा तब भगवान् *'अनुज जानकी सहित'* मनरूपी मानस-सरमें हंसके समान रहेंगे ही। यथा—*'मुनि महेस मन मानस हंसा' 'जो भुशुंडि मन मानस हंसा।'* इत्यादि। भाव यह कि इस स्तुतिके जपसे भगवान् हृदयमें निवास करेंगे।

दो०—उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥ ४७॥

शब्दार्थ—*कृतारथ*—जन्म लेकर संसारमें आनेपर जो अवश्य करना चाहिये उसको जो करके मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करे वह 'कृतार्थ' है। अर्थात् वह सब कर चुका उसको किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रह गयी। 'कृत' का अर्थ है सम्पादन और **'कृतः अर्थः येन असौ कृतार्थः।'**

अर्थ—हे उमा! ब्रह्म सच्चिदानन्दघन रघुनाथजी जहाँ राजा हैं उस अवधके वासी स्त्री-पुरुष कृतार्थरूप हैं॥ ४७॥

टिप्पणी—१ 'अवधवासी अभी मुक्तिके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि अभी तो शिक्षामात्र हुई है, अभी उन्होंने साधन नहीं किया है। जब साधन करेंगे तब परम पद पायेंगे।' इस शङ्काके निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि सभी अवधवासी कृतार्थरूप हैं, वे सब कृत्य कर चुके हैं, उन्हें कुछ भी करना बाकी नहीं है, वे साधक जीव नहीं हैं, वे सिद्ध कोटिमें हैं, वस्तुतः पुरजनके मिष यह उपदेश लोकको है, पुरजनके लिये नहीं, क्योंकि वे तो उसमें प्रवृत्त ही हैं। २—*'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक.........'* इति। ब्रह्म अर्थात् बृहत् है पर बृहत् तो ब्रह्माण्ड भी है। इसपर कहते हैं कि ब्रह्म सत् है अर्थात् अविनाशी है और ब्रह्माण्डका नाश है, इस कथनसे अस्तिता आती है, 'अस्ति' तो माया जीव भी हैं, इसपर कहते हैं कि माया जड़ है और ब्रह्म चैतन्य है—*'चिती संज्ञाने।'* ब्रह्म आनन्दघन है, जीव आनन्दघन नहीं है। ३—*'रघुनायक जहँ भूप'* अर्थात् जहाँ ऐसे राजा हैं वहाँ प्रजा कृतार्थरूप क्यों न हो? कृतार्थरूप कहकर उसका कारण उत्तरार्धमें बताते हैं कि ब्रह्म सच्चिदानन्दघन राजाकी प्रजा मायिक कैसे हो सकती है, सब नित्यपार्षद हैं—(खर्रा)। [जिनका नाम भवभेषज है, जिनके चरित कृतार्थ करनेवाले हैं, यथा—*'मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी'*, जिनके साधारण आश्रित भवपार हो जायँ उनकी प्रजाके कृतार्थरूप होनेमें क्या संदेह है। (रा० शं०) यह तो साक्षात् परम्परासे उपदेश पाकर चर्या करके कृतार्थ हो गये। (रा० प्र०)] इससे यह शिक्षा देते हैं कि राजा लोग अपनी

प्रजाको ऐसा ही उपदेश करें। ४—☞पार्वतीजीका जो प्रश्न है कि *'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥'* (बा० ११०), उसका उत्तर श्रीशिवजीने यहाँ गुप्त रीतिसे दिया है कि जहाँ ब्रह्म ही भूप है वहाँकी प्रजाकी मुक्तिमें आश्चर्य ही क्या? ☞यहाँ 'उमा' सम्बोधन देनेका भाव यह है कि यह उमाजीका ही प्रश्न है कि *'प्रजा सहित.........।'*

शीला—उमाजीको शङ्का हुई कि अवधवासी सब काल श्रीरामजीके समीप प्राप्त हैं, तब भी उनको मुक्तिका उपाय सिखाते हैं तो क्या रामप्राप्ति होनेपर भी मुक्ति बाकी रह गयी? उसी शङ्काका उत्तर यहाँ शिवजी देते हैं कि अवधवासी तो सभी मुक्तरूप हैं अर्थात् वह उपदेश तो लोकशिक्षा-हेतु है। जैसे अनसूयाजीका उपदेश श्रीसीताजीको जो हुआ वह वस्तुतः संसारके लिये था, यथा—*'तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसारहित।'*

श्रीजयरामदासजी दीन—जो भाग्यवान् पाठक आजकल भी इस रामगीताका श्रवण वा पठन-पाठन करके श्रीरामजीके परम हितकारी उपदेशोंका मनन-निदिध्यासन करेंगे, वे भी अवधपुरवासियोंके पदको ही प्राप्त करेंगे।—*'तुलसी तब के से अजहुँ जानिबो रघुबर नगर बसैया।'* (गी०) इसी धारणाके कारण श्रीअवधपुरकी प्रजा सदेह श्रीरामजीके धामको जा पहुँची है।

श्रीवसिष्ठ-राम-मिलन-प्रसङ्ग

एक बार बसिष्ठ मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए॥ १॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक* लीन्हा॥ २॥
राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥ ३॥
देखि देखि आचरनु तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा॥ ४॥

अर्थ—एक दिन (की कथा है कि) श्रीवसिष्ठजी वहाँ आये जहाँ सुन्दर सुखके धाम श्रीरामजी थे॥ १॥ श्रीरघुनाथजीने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया, चरण धोकर चरणामृत लिया॥ २॥ मुनि हाथ जोड़कर बोले—हे राम! हे कृपासिन्धु! मेरी कुछ विनती है, उसे सुनिये॥ ३॥ आपका चरित देख-देखकर मेरे हृदयमें अपार मोह होता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'एक बार'* इति। 'बार' पद देकर एक दिनकी कथा कहते हैं। यथा—*'भ्रातन्ह सहित राम इक बारा', 'एक बार रघुनाथ बोलाए'* तथा यहाँ *'एक बार बसिष्ठ मुनि आए।'* अथवा, गुप्त बात कहनेके लिये *'एक बार'* कहा। भाव कि यह बात किसीकी जानी हुई नहीं है, एक बार ऐसा हुआ है। (ख)—*'राम सुखधाम'* विशेषणका भाव कि अपने सुख-प्राप्तिके लिये मुनि श्रीरामजीके पास आये हैं।—[वसिष्ठजीने नामकरण-संस्कार-समय भगवान्‌को यही विशेषण दिया था, यथा—*'सो सुखधाम राम अस नामा।'* अतः वक्ता उनके भावानुकूल वही शब्द यहाँ देते हैं।]

गौड़जी—भरी सभामें जहाँ वसिष्ठजीके सिवा और भी अनेक ऋषि-मुनि बैठे हुए थे और सभी पुरवासी थे वहाँ अपने उपदेशमें इस बातका साफ एकबाल किया गया है कि सबसे सुलभ और सुगम मेरी भक्तिका मार्ग है और उसके कोठारी भगवान् शङ्कर हैं। अब वसिष्ठजीको इस बातका कोई खटका नहीं रहा कि प्रभु अपनी परमात्मसत्तासे इनकार करेंगे। इससे पहले प्रत्येक प्रसङ्गमें वसिष्ठजीको यह खयाल रहता था कि प्रभु गुप्तरूपसे अवतरे हुए हैं, इसलिये रहस्य खोलनेपर नाराज होंगे अथवा नाराज न भी हुए तो रहस्योद्घाटन उनकी इच्छाके प्रतिकूल होगा, लेकिन अब तो श्रीमुखसे ही रहस्योद्घाटन हो चुका है अब खुलके बातें करनेमें कोई रुकावट नहीं रही। इसीलिये आज वसिष्ठजीका धड़का खुल गया है। वैसे तो वसिष्ठजी खूब जानते हैं और राजा दशरथसे कह ही चुके हैं कि *'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥ भएउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। राम पुनीत प्रेम अनुगामी॥'*

* चरनोदक—(का०)।

इसीपर दशरथजी भी कहते हैं *'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥'* इस तरहकी बातें पहले हो चुकी थीं परंतु उनपर स्वीकृतिकी मुहर नहीं लगी थी।

नोट—अ० रा० में श्रीदशरथजीकी आज्ञासे जब वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको राज्याभिषेकके लिये संयम करनेका उपदेश देने गये हैं तब वहाँ ऐसा ही कहा है जैसा यहाँ ४८ (२, ६, ७, ८) में। प्रसङ्ग उससे मिलता है पर वहाँ भक्तिका महत्त्व नहीं वर्णन हुआ है, केवल मोह दूर करनेकी प्रार्थना की गयी है और यहाँ भक्तिकी भी प्रधानता वर्णन की है। मिलान कीजिये—

अन्तःप्रविश्य भवनं स्वाचार्यत्वादवारितः। गुरुमागतमाज्ञाय रामस्तूर्णं कृताञ्जलिः॥ १८॥

प्रत्युद्गम्य नमस्कृत्य दण्डवद्भक्तिसंयुतः। स्वर्णपात्रेण पानीयमानिनायाशु जानकी॥ १९॥

रत्नासने समावेश्य पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः। तदपः शिरसा धृत्वा सीतया सह राघवः॥ २०॥

धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात्॥ .... २१ .... मनुष्य इव लोकेऽस्मिन् भासि त्वं योगमायया। पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम्॥ २८॥ इक्ष्वाकूणां कुले रामः परमात्मा जनिष्यते। इति ज्ञातं मया पूर्वं ब्रह्मणा कथितं पुरा॥ २९॥ ततोऽहमाशया राम तव सम्बन्धकाङ्क्षया। अकार्षं गर्हितमपि तवाचार्यत्वसिद्धये ॥ ३०॥ ततो मनोरथो मेऽद्य फलितो रघुनन्दन।' (अ० रा० २। २)

अर्थात् गुरुको आते जान रघुनाथजी शीघ्र ही हाथ जोड़े हुए आगे स्वागतको आये और दण्डवत्-प्रणाम किया। श्रीजानकीजी सोनेके पात्रमें जल लायीं। रत्नासनपर बिठाकर चरणप्रक्षालनकर चरणामृतको सिरपर दोनोंने धारण किया और कहा कि आपका चरणामृत धारण करके आज हम धन्य हुए। यह सुनकर वसिष्ठजी हँसकर बोले कि.........आप योगमायाद्वारा मनुष्योंकी तरह इस लोकमें भासित हो रहे हैं (भाव कि मैं जानता हूँ कि आप परब्रह्म हैं पर नरनाट्य करते हुए आप ऐश्वर्य गुप्त किये हुए हैं)। मैं जानता हूँ कि पुरोहित-कर्म निन्दित है यह जीविका दूषित है। पर ब्रह्माजीने मुझे जो यह पूर्व कहा था कि परमात्मा राम इक्ष्वाकुकुलमें अवतार लेंगे, यह जानकर हे राम! आपके सम्बन्धकी लालसासे आपकी आचार्यत्व-सिद्धिके लिये यह निन्दित कर्म ग्रहण किया। वह मनोरथ आज सफल हुआ।

'अति आदर' से अ० रा० के **'रामस्तूर्णं कृताञ्जलिः।'** से लेकर **'धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात्।'** तकके सब भाव जना दिये।

मानसमें इस जगह श्रीजानकीजीका नाम नहीं है। इससे गुप्तरीतिसे जना दिया कि सीता-त्याग हो चुका है अथवा वे साकेतको प्रस्थान कर चुकी हैं, उसके पश्चात्‌की यह बात है। वे होतीं तो पद-प्रक्षालन एवं प्रणाममें वे भी सम्मिलित होतीं, जैसे पूर्व *'गहे चरन सिय सहित बहोरी।'* (२। ९। ४) कहा था वैसे ही यहाँ कहते। अथवा यह भी सम्भव है कि श्रीरामजी इस समय अपने भवनमें नहीं हैं, कहीं और एकान्तमें अकेले ही बैठे हैं, न श्रीसीताजी साथ हैं और न कोई भाई ही साथ हैं। इसीसे श्रीरामने स्वयं चरण-प्रक्षालन किया। भवनमें होते तो श्रीसीताजी जल लातीं। भाई साथ होते तो उनका भी प्रणाम कहा जाता और वे ही जल लाते। मानसके क्रमसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि स्वर्गारोहण-लीला अब अति संनिकट है, यही जानकर उसके कुछ पूर्व ही श्रीवसिष्ठजी यह वरदान लेने आये।

टिप्पणी—२ (क) *'अति आदर'* इति। *'गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नाएउ माथा॥ सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥'* (२। ९। २-३) इत्यादि। *'अति आदर'* है। (ख) *'रघुनायक'* —पद देनेका भाव कि चरणोदक लेना इत्यादि माधुर्यका कार्य है, ऐश्वर्यमें तो वे सबके स्वामी हैं, अतः माधुर्यके अनुकूल यहाँ *'रघुनायक'* नाम दिया।

(ख) [*'राम सुनहु'* इति। श्रीरामजी अपने सहज स्वरूपकी कथा नहीं सुनते, यथा—*'सहज स्वरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।'* (वि० १६४) फिर गुरुमहाराज हाथ जोड़कर ऐश्वर्यको कहें तो भला उसको वे कैसे सुनेंगे। अतः कहते हैं कि इसे सुनिये। (रा० शं०)]।

वि० त्रि०—आज मुनिजीको प्रभुसे विनती करनी है, अत: एकान्तमें मिलने आये। सनकादिकको भी विनती करनी रही, तिरोभावका समय संनिकट देखकर वे उपवनमें मिलने गये, जहाँ सरकार चारों भाई थे, और कोई नहीं था। वसिष्ठजी तो उस समय गये जब भाई लोग भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें हाथ जोड़कर विनती करनी थी, और इस भाँति गुरुके विनय करनेसे शिष्यका बड़ा भारी अपमान होता है और बात ऐसी थी कि बिना हाथ जोड़कर विनती किये गुरुजीको संतोष न होता। सरकारको पूर्णब्रह्म जानकर भी उनके साथ शिष्योंकी भाँति बर्ताव करना पड़ता था। सरकारद्वारा गुरुकी भाँति पूजित होनेपर वसिष्ठजीका हृदय काँप उठता था। पूजित होनेपर वे अपनेको सापराध-सा मानते थे, परंतु करते क्या, उन्हें ब्रह्मदेवने उसी भाँति भगवत्प्राप्तिका विधान किया था। उसीके क्षमापनके लिये हाथ जोड़कर विनती करते हैं और चरणकमलोंमें अविचल भक्ति माँगते हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'मुनि कह कर जोरी'* इति। श्रीरामजीने गुरुभावसे आदर किया और मुनिने इनमें परमात्मभाव मानकर हाथ जोड़कर विनती की। *'कृपासिंधु'* का भाव कि मुझपर कृपा करके मेरी विनती सुनिये, बहलाइये नहीं। (ख) श्रीरामजी एकान्तमें जहाँ थे वहाँ मुनि आये; क्योंकि गुप्त विनय करना है। उनके मनकी जानकर श्रीरामजीने अपनेको छिपानेके लिये उनका अत्यन्त आदर किया, (जैसा आदर पूर्व किया करते थे उससे कहीं अधिक किया, यह सूचित करनेको *'अति आदर'* शब्द यहाँ दिये) चरणोदक लिया, यह देख वसिष्ठजीने हाथ जोड़े कि मुझे भुलावेमें न डालिये, आपके आचरण देख मोह हो जाता है। (शीला)। पुन: भाव कि आपकी माया प्रबल है पर हम दासोंपर तो कृपा ही किया कीजिये, मोहमें न डालिये। इसीसे मैं विनती करता हूँ। (पं०)] ४—*'होत मोह मम हृदय'* का भाव कि इन आचरणोंका भेद समझमें नहीं आता। सबके स्वामी होकर चरणोदक लेते हो। *'देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि'* यह पार्वतीजीने कहा है।—[भाव कि ऐसी कृपा कीजिये कि मोह न हो, यथा—**'मां यथा मोहयेन्नैव तथा कुरु रघूद्वह'**—(अ० रा० २। २। ३२)]

पं० रा० प० श०—*'मोह अपारा'* का भाव कि मोह निवारण करने बैठो तो निवारण नहीं होता, सुलझनेका उपाय करो तो और भी उलझाव पड़ जाता है।

रा० प्र०—कोई-कोई कहते हैं कि रघुनाथजीकी पाँच लीलाएँ हैं। उनमें पाँच भक्तोंको मोह हुआ। बाललीलामें भुशुण्डिको, विवाहमें विरञ्चिको—*'बिधिहि भएउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥'* वनलीलामें सतीको, रणमें गरुड़को और राज्यलीलामें वसिष्ठजीको।

वै०—*'मोह'* का भाव यहाँ यह है कि अनेक अवसरोंपर मैं ऐश्वर्यभाव भूल-भूल गया हूँ, केवल माधुर्यपर ही दृष्टि रह गयी थी।

महिमा अमिति बेद नहिं जाना। मैं केहि भाँति कहौं भगवाना॥ ५॥
उपरोहित्य* कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥ ६॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥ ७॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥ ८॥

अर्थ—आपकी महिमाकी मिति नहीं (अत:) वेद भी उसे नहीं जानते। तब हे भगवन्! मैं उसे किस प्रकार कह सकता हूँ (भाव कि मैं जो कुछ जानता हूँ। सो वेदसे ही जानता हूँ। जब वे नहीं जानते तब मैं कहाँसे जानूँ और जानता नहीं तब कहूँ कैसे?)॥ ५॥ पुरोहिताई कर्म बहुत ही नीच है। वेद, पुराण, स्मृति सभी इसकी निन्दा करते हैं॥ ६॥ जब मैंने (रघुकुलकी) पुरोहिताई न स्वीकार की तब ब्रह्माजीने मुझसे कहा—पुत्र! तुमको इससे आगे लाभ होगा। (क्या लाभ होगा सो कहते हैं—)॥ ७॥ परमात्मा ब्रह्म नररूपसे वा नररूप ब्रह्म रघुकुलके भूषन राजा होंगे॥ ८॥

* उपरोहिती—(का०)।

नोट—१ *'अति मंदा'* का भाव कि और भी बहुत-से कर्म मन्द कहे गये हैं पर इससे मन्द कोई नहीं, यह *'अति मंद'* है। क्योंकि इससे ब्रह्मतेज, ब्रह्मत्व ही नष्ट हो जाता है। (पं० रा० व० श०)। इसमें यजमानोंके सब व्यवहारोंकी चिन्ता रहती है, प्रतिग्रह लेना और उनके पापकर्मोंका भागी होना पड़ता है (पं०)। यथा—'**यस्तु राजाश्रयेनैव जीवेद् द्वादशवार्षिकम्। स शूद्रत्वं व्रजेद्विप्रो वेदानामपि पारगः॥**' —(वृद्धगौतमस्मृति अ० १९), '**राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः। भर्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा॥**' वि० टी०)।

गौड़जी—ब्राह्मणका सबसे उच्च कर्म वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान लेना है। षट्कर्मोंमें वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना ये बड़ी जिम्मेदारीके काम हैं। पढ़नेमें अशुद्ध उच्चारणका जिम्मेदार गुरु या पढ़ानेवाला होता है। अनधिकारीको वेद पढ़ानेका पाप भी पढ़ानेवालेको लगता है। देश-काल-पात्रकी चूक उसीके सिर जाती है। इसी तरह यज्ञ कराने और दान लेनेमें भी ब्राह्मणको जिम्मेदारी लेनी पड़ती है। यजमान और दाताके पापों और भूल-चूककी जिम्मेदारी कर्म कराकर दक्षिणा और दान लेनेवालेपर आती है। इसीलिये ब्राह्मणका पुरोहित बन जाना उसके ब्राह्मणत्वमें और उसकी तपस्यामें बड़ी हानिका कारण होता है। इसीलिये पुरोहितीका कर्म अति मन्द समझा जाता है।

रा० प्र०—नीचकर्म सभी वर्जित हैं और इसकी तो वेदादि सभी निन्दा करते हैं अतः मैं न लेता था। कौन देता था यह आगे खोलते हैं।

रा० शं०—*'सुत'* का भाव कि पिता पुत्रका हमेशा कल्याण चाहता है, वह उसके लिये अकल्याणकी वस्तु न देगा।

टिप्पणी—१ *'मैं केहि भाँति कहौं भगवाना'* और *'परमातमा ब्रह्म नररूपा'* कहकर अर्थात् भगवान्, परमात्मा और ब्रह्म तीन नाम यहाँ देकर, सूचित किया कि जिसको उपासक भगवान् कहते हैं उसे कर्मकाण्डी परमात्मा कहते हैं और वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, वह तुम-(वसिष्ठजी-) को प्राप्त होगा, यह ब्रह्माजीने कहा था।

दो०—तब मैं हृदय बिचारा जोग जज्ञ ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहौं धर्म न एहि सम आन॥ ४८॥

अर्थ—(जब अतिमन्द श्रुतिस्मृति-निन्दित पौरोहित्य कर्मसे परात्पर ब्रह्मकी प्राप्ति बतायी) तब मैंने हृदयमें विचार किया कि जिसके लिये योग, यज्ञ, व्रत और दान किये जाते हैं, उसे मैं पा जाऊँगा। तब तो इसके समान दूसरा धर्म नहीं है॥ ४८॥

वि० त्रि०—ब्रह्मदेवके कहनेपर भी विचारकी आवश्यकता पड़ी, क्योंकि परम ज्ञानी ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीके अनुरूप पुरोहिती किसी प्रकारसे नहीं थी। विचार करनेपर यही स्थिर किया कि जब ध्येयकी प्राप्ति पुरोहितीसे होती हो तो ऐसी पुरोहिती निन्द्य क्यों है, वह तो सर्वश्रेष्ठ धर्म है। भाव यह कि आपकी प्राप्तिके लिये अति मन्द कर्म भी मैंने स्वीकार किया। शिव-अज-पूज्य-चरण होकर आप मेरा पाद-प्रक्षालन करें, चरणोदक लें और मैं आपसे पाद-प्रक्षालनादि कराऊँ, इससे बढ़कर धृष्टता क्या होगी। फिर भी मैं उसे स्वीकार किये हुए हूँ। मैं निरुपाय होकर ऐसा कर रहा हूँ, इसमें मेरा अधिक अपराध नहीं है।

टिप्पणी—१ (क) *'जोग जज्ञ ब्रत दान'* अर्थात् अष्टाङ्गयोग, वैष्णव, पाशुपत, अश्वमेध आदि यज्ञ। चान्द्रायणादि व्रत। भूमि, कन्या, अश्व, गज इत्यादिका दान। (ख) *'जा कहुँ करिअ'* इति। अर्थात् जिसके लिये योग-यज्ञ-व्रत-दान किये जाते हैं। ये सब भगवान् परमात्मा ब्रह्मके लिये ही किये जाते हैं। यथा *'करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी॥ ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥'*.........*नयन बिषय मो कहुँ भयेउ।'* (१। ३४१), '**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः ....तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैव विदित्वा मुनिर्भवति।**' (बृह० अध्या० ४ ब्राह्मण ४ मं० २२) (अर्थात् वह यह महान् अजन्मा आत्मा जो कि प्राणोंमें विज्ञानमय है.........उस

इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। उसीको जानकर ब्राह्मण मुनि होता है)। *'सो पैहौं'* का भाव कि जिसके जाननेके लिये इतना परिश्रम किया जाता है, उसको मैं साक्षात् पाऊँगा, बिना परिश्रम केवल पुरोहित हो जानेसे। तब इससे बढ़कर धर्म और साधन क्या है, कोई भी नहीं। अतः मैंने इसे स्वीकार कर लिया। पुनः भाव कि योग-यज्ञादि जिसके लिये लोग करते हैं वे सफल तभी होते हैं जब आपका दर्शन हो, मुनि लोग ये सब आपके लिये करते हैं और दर्शन पाकर सफल-मनोरथ होते हैं। यथा—*'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥'* (२। १०७), *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२। २१०। ४) (ग), *'धर्म न एहि सम आन'* अर्थात् योग, यज्ञ, तप, दान आदि जितने धर्म हैं उनसे यह आवश्यक नहीं है कि ब्रह्मकी प्राप्ति हो ही जाय, तब यदि बिना किसी साधनके पुरोहितीमात्र ग्रहण कर लेनेसे ब्रह्मकी साक्षात् प्राप्ति होगी तो वह *'अति मंद'* न होकर परमोत्कृष्ट अनुपम धर्म ही हुआ। क्योंकि *'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥'* (२। १०७) [इस कथनका तात्पर्य यह है कि आप मुझे गुरु कहते हैं पर मैंने तो यह बोझा आपके दर्शनोंके निमित्त ही सिरपर धारण किया है। (पं०)]।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रसंग यजुर्वेदमें है। यथा—'**अहो यक्षतसूत्रं परिदधाति वशिष्ठत्वं पुरोधाति स एव ब्रह्मोद्भवं परिपश्यन्तु धीराः। अनन्यमनसा चिन्तयन्तु देवाः स्वर्गेषु यज्ञापाय्यायतांधिकः कौशिकेन समग्र विलीयतां देवाः विरसि बाहुँरसितूर्यमगतायतां प्रधानानि यज्ञासीत्। एषः ब्राह्मणः वशिष्ठस्याह प्रयोजनाय यज्ञायकेषु भानुवंशस्य कृतोद्भवः आचरणाय कर्मणे सर्वस्य अप्रमेयानि नाहं बभूव यस्तु ज्ञेयं स नीचैः तन्नो गृह्णाति काले मङ्गलाय परिपूर्णब्रह्मलोकादिहागताः पूज्यमानाः सन्तु आपः सुमनस्य मनोद्भवादेव वर्षे गच्छन्तु परे मङ्गलमास्तान् चिन्मयो सम्मेलनं विधि संगीयता।**'

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ १॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥ २॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ ३॥
तव पदपंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥ ४॥

शब्दार्थ—'आगम'-'**आगते शिववक्त्रेभ्यो गतञ्च गिरिजाश्रुतौ। मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते**'-रा० प्र०।

अर्थ—जप, तप, नियम, योग, अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म, वेदोंसे उत्पन्न अनेक शुभ कर्म, ज्ञान, दया, दम, तीर्थस्नान इत्यादि जहाँतक धर्म वेदों और सज्जनोंने कहे हैं॥ १। २॥ हे प्रभो! अनेक शास्त्र (तन्त्र), वेद और पुराणोंके पढ़ने और सुननेका (सर्वप्रधान, मुख्य) फल एक ही है॥ ३॥ सब साधनोंका यही सुन्दर फल है कि आपके चरणकमलोंमें निरन्तर (अर्थात् अविच्छिन्न एकरस) प्रेम हो (भाव कि कोई भी साधन करके यदि अन्य किसी फलकी प्राप्ति की गयी तो वह फल सुन्दर फल नहीं है)॥ ४॥

टिप्पणी—जप अर्थात् विधिपूर्वक पुरश्चरण, तप अर्थात् पञ्चाग्नि जलशयनादि, नियम बारह। ज्ञान अर्थात् सांख्य। दम अर्थात् बाह्येन्द्रियोंका रोकना, तीर्थ ३३॥ करोड़ हैं। सज्जन जैसे कि मनु और याज्ञवल्क्य ऋषि आदि। *'अनेक'* कहकर सब पुराण और उपपुराण भी सूचित किये।—(बा० मं० श्लो० ७ देखिये)। [*'पढ़े सुने कर फल एका।'* चाहे पढ़े चाहे सुने, दोनोंका फल एक ही है। पढ़े गुरु आदिसे और सुने सत्सङ्गमें। (भा० दा० में *'पठे'* पाठ है)। रा० प्र०)]

२ *'सब साधन कर फल यह सुंदर'* इति। (श्रीभुशुंडिजीने भी यही कहा है। यथा—*'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥ सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै छेमा॥'* (९५। ५-६) तात्पर्य कि धर्म करके और कोई वासना न रखे, भक्ति छोड़ और किसी पदार्थकी चाह न करे, यही फल सुंदर है और (स्वर्गादिकी प्राप्ति इत्यादि) फल सुन्दर नहीं हैं जैसा आगे कहते

हैं—'*छूटै मल*..........।' यथा—'*जप तप करके स्वर्ग कमाना यह तो काम मजूरों का*', '*ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहि थोरे। रामप्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हिलोरे।*'

रा० शं०—पूर्व कहा कि '*जा कहँ करिय सो पैहौं*' और यहाँ उन्हींका फल इन शब्दोंमें कहा कि '*तव पदपंकज प्रीति निरंतर।*' इस तरह जनाया कि चरणोंमें निरन्तर प्रेम होना भी '*भगवत्प्राप्ति*' ही है।

वीर—सब साधनोंकी समता पद प्रेममें इकट्ठी करनी 'तृतीय तुल्ययोगिता' है। पदपंकजमें 'निरङ्गरूपक' है।

छूटै मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ* बारि बिलोए॥ ५॥
प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ ६॥
सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित॥ ७॥
दच्छ सकल लच्छनजुत सोई। जाके पदसरोज रति होई॥ ८॥

शब्दार्थ—**विलोना (सं० विलोडन)**=मथना। **बिज्ञान**=शास्त्रजन्यज्ञानका अभ्यास करते-करते अखण्ड ज्ञानका अनुभव विज्ञान है। **दच्छ**=व्यवहारमें कुशल।

अर्थ—क्या मैलेसे धोनेसे मैला छूट सकता है? (कदापि नहीं)। क्या जलको मथनेसे कोई घी पा सकता है? (अर्थात् नहीं पाता)॥ ५॥ हे रघुराज! बिना प्रेमभक्तिरूपी जलके अन्तःकरणका मैल कभी नहीं जाता॥ ६॥ वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पण्डित है, वही गुणोंका घर है, अखण्ड विज्ञानी है और वही चतुर एवं समस्त सुलक्षणोंसे युक्त है जिसका प्रेम आपके चरणकमलमें है। (भाव कि चाहे उसमें कोई गुण हों वा न हों, आपमें प्रेम होनेसे उसमें ये सब गुण समझे जायँगे। सब गुणोंकी देनेवाली एक आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति है और प्रभु-पद-प्रेम बिना सर्वज्ञादि गुण होते हुए भी उनकी सर्वज्ञतादि व्यर्थ है)॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ '*छूटै मल कि मलहि के धोए*' इति। (क) जपतपादि मलरूप हैं। मलसे मलको कोई धोकर छुटाना चाहे तो वह नहीं छूट सकता। इसी प्रकार विषयसे विषय नहीं छूटता। सवासिक कर्मों-धर्मोंके फल सब मलरूप हैं; क्योंकि उनसे विषयभोगमें प्रेम बढ़ता ही जायगा। इसीसे इन सब फलोंको सुन्दर नहीं कहा। (ख) मलसे मल नहीं छूटता वैसे ही कर्म करनेसे कर्म नहीं छूटता और जैसे जल बिलोनेसे घी नहीं मिलता वैसे ही ज्ञानसे निर्मलता नहीं प्राप्त होती।-यह '**वक्रोक्ति**' है।

पं० रा० व० श०—मनु याज्ञवल्क्यादिने वर्णाश्रम-धर्मों और उनके फलोंका वर्णन किया है और ज्ञानको भी उत्तम कहा है। अतः शङ्का होती है कि क्या ये सुन्दर नहीं हैं? उसपर कहते हैं कि '***छूटै मल***..........' और '***घृत कि पाव***..........।' दो दृष्टान्त दोके लिये हैं। कर्मसे कर्मका छुड़ाना चाहना मलसे मलका धोना है और शुष्क ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति चाहना जल बिलोकर घी निकालनेकी चाहके समान है।

नोट—१ भा० ६। १। ११। में शुकदेवजीका वचन है कि '**कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते॥**' अर्थात् हे राजन्! जो तुमने कहा कि पापोंके लिये लोग चान्द्रायणादि द्वादशवार्षिक व्रतादि करके उनसे निवृत्त होते हैं और फिर उन्हीं पापोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं तब वह प्रायश्चित्त भी व्यर्थ है, उसका उत्तर सुनो। कर्मसे कर्म निर्मूल नहीं हो सकता (भाव कि पाप करना भी कर्म है और व्रतादि प्रायश्चित्त भी कर्म ही है), क्योंकि '**अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्**' अर्थात् कर्मके अधिकारी अविद्यासे कलुषित होते हैं। पापकर्मोंसे हृदय पहले कलुषित हुआ, यम-नियम-व्रत-दानादि शुभकर्मोंसे उनका प्रायश्चित्त किया तो वे कुछ नष्ट होते हैं पर साथ ही शुभकर्मोंका फल-भोगरूपी मल ऊपरसे लिपट जाता है। शुभाशुभ दोनों ही कर्म बन्धनमें डालनेवाले हैं। भक्तिसे सञ्चित कर्म सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं। शुभाशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं यथा—'*त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि नायक॥*'

---

* कोई—भा० दा०।

गौड़जी—प्रायश्चित्तादि कर्मद्वारा पापकर्मोंका विपाक रुक नहीं जाता। उनके विपाकके समयमें विधिवत् किये हुए प्रायश्चित्त कर्म उसकी कठोरताको कोमल कर देते हैं। अथवा भोगकालको बहुत घटा देते हैं। इस तरह कर्मके द्वारा कर्मका बन्धन मिट नहीं सकता।

नोट—२ जिस मलसे धोना कहते हैं वह और जिस मलको धोना है वे मल क्या हैं, यह विनयके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है जो यहाँ दिये जाते हैं—

'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥ नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागे। हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥ परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे बचन दोष पर गाये। सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥ तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥ पद ८२॥'

'जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो। होइ न बिमल-बिबेक-नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥ ८८॥'

'बहुभाँतिन सम करत मोहबस बृथहि मंदमति बारि बिलोयो। करमकीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो॥ २४५॥

उपर्युक्त पद ८२ में इन्द्रियों तथा मन, चित्त और हृदयमें क्या मल लगा है यह बताते हुए यह कहा है कि यह सब मोह-जनित मल है। इसके धोनेके लिये व्रत, दान, ज्ञान, तप बताये गये हैं पर इनसे उस मलका सर्वथा नाश नहीं होता। सर्वथा नाश श्रीरामचरणानुरागरूपी जलसे ही होगा। इसके अनुसार मोह-जनित विषय-वासनाएँ और तद्विषयक कर्म ही मल हैं। जिनको धोकर दूर करना है। व्रत-ज्ञान आदि उपाय भी मल हैं जिनसे उनको धोते हैं, पर इनसे वह मल-भार धुलकर साफ नहीं हो पाता, बना ही रह जाता है। श्रीरामानुराग जल है। इससे मल सर्वथा दूर हो जाता है।

पद ८८ के अनुसार नाना प्रकारके कर्म जो अनेक जन्मोंसे अबतक करते चले आ रहे हैं वे ही दोनों प्रकारके मल हैं। अशुभ और शुभ कर्म। अशुभ कर्म फलोंको शुभ कर्मोंसे मिटाना चाहते हैं, यह सम्भव नहीं। निर्मल विवेक जो भगवद्भक्ति-संयुक्त होता है उस विवेकरूपी जलसे ही धुलता है। पद २४५ में भी कर्मको ही दोनों प्रकारका मल कहा है। कर्मसे ही कर्मको धोना मलसे मलको धोना है।

वि० ८२ में रामचरणानुरागको जल कहा है और मानसमें *'प्रेम भगति'* को। इससे जनाया कि दोनों एक ही हैं।

मलको मलसे धोना। जैसे कीचड़ शरीरमें लग जाय तो कोई उसे कीचड़से ही छुड़ाना चाहे तो वह कीचड़ छूटना तो अलग रहा और भी लपटकर सघन हो जायगा। वैसे ही पापकर्मोंको योग, यज्ञ, जप, दान, ज्ञान आदि कर्मोंसे मिटानेके बदले और भी जकड़कर बँधना हो जाता है। यथा—***'छूटिबे की जतन बिसेष बाँध्यो जाहिगो। ह्वैहै बिष भोजन जौं सुधा सानि खाहिगो।'*** (वि० ६८)

३ इसपर यह शङ्का हो सकती है कि गीतामें तो भगवान्‌ने कहा है कि अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य परम-पदप्राप्तिरूपी संसिद्धिको पाता है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** (१८। ४५) तो इसका उत्तर भी उसीके आगे भगवान्‌ने स्वयं दिया है कि **'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।'** (४५) अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको पाता है वह मुझसे सुन। और फिर बताया है कि सबको उत्पन्न करनेवाले तथा सबमें अन्तरात्मा रूपसे स्थित मुझ परमेश्वरको अपने कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य मेरे प्रसादसे मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धिको पाता है। यथा—**'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'** (४६)

जब वे कर्म भगवान्‌की पूजाके अङ्ग हुए, उन्हींके लिये किये गये तब तो वह सब भगवद्भक्ति ही हो गये। तब वे बन्धनरूप नहीं हो सकते। ऐसा ही श्रीमद्भागवतमें भी कहा है।

अनेक जन्मोंका विकार जो हृदयमें जमा है वही मल है, हरिभक्तिसे ही वह धुलता है, ऐसा (भा० ४। २१। ३१, ३२) में पृथुजीने भी कहा है। यथा—**'यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः। सद्यः**

क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥ विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमानसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान्। यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥' (३१-३२)

श्रीपृथुजी कहते हैं कि जिनके चरणकमलोंकी सेवामें निरन्तर बढ़नेवाली प्रीति तपस्वियोंके अनेक जन्मोंके संचित मनोमलको इस प्रकार तत्काल नष्ट कर देती है जैसे उन्हींके चरणनखसे निकली हुई श्रीगङ्गाजी। तथा जिनके चरणमूलका आश्रय लेनेवाला पुरुष सम्पूर्ण मनोमलसे मुक्त होकर और असङ्गताके ज्ञानसे विशेष बल पाकर फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ता। अतएव आप उन्हीं प्रभुको मन-कर्म-वचनसे भजें—'**तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिर्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।**'

४ '*छूटै मल कि मलहि के धोए*' से सञ्चित कर्मों, विषयवासनाओं आदि रूपी मलको तप, दान आदि शुभ कर्मोंद्वारा नाश होनेका निषेध किया। '*घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये*' से उनके द्वारा भवबन्धनसे मुक्तिका निषेध किया। यहाँ योगयज्ञादि सब साधन वारिरूप हैं। जलके मथनेसे घी नहीं निकलता। यथा—'*सुखसाधन हरिबिमुख बृथा जैसे श्रमफल घृत हित मथे पाथ।*' (वि० ८४) श्रममात्र ही हाथ लगता है। यथा '*बहु भाँतिन श्रम करत मोह बस बृथहि मंदमति बारि बिलोयो॥*' (वि० २४५) शुभ कर्मोंका बारंबार करना पानीका मथना है। मोहजनित मलका छूटना, सुख-शान्तिकी प्राप्ति, भवबन्धनका छूटना घृत है। श्रीभुशुण्डिजीने तो यहाँतक कह डाला है कि '*बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।*' (१२२) जलके मथनेसे कदाचित् घी निकल आवे, यह असम्भव सम्भव हो जाय पर बिना भगवद्भक्तिके भवसे निवृत्ति नहीं होनेकी। विनयमें भी कहा है—'*पायो केहि घृत बिचारु, हरिन-बारि महत। तुलसी तकु ताहि सरन, जाते सब लहत॥*' (पद १३३)

टिप्पणी—२ '*प्रेमभगति जल बिनु रघुराई।.........*' इति। सब धर्म साबुन हैं। जैसे केवल साबुन रगड़नेसे मैल नहीं जायगा जबतक उसमें जल न पड़ेगा; वैसे ही आपकी प्रेमलक्षणा भक्तिरूपी जलके साथ सब धर्म जीवके मलको दूर कर सकते हैं, केवल कर्म और ज्ञान दूर नहीं कर सकते। सारांश यह कि प्रेम अन्तःकरणमें होता है, इसीसे वह अन्तःकरणको निर्मल कर देता है।* अर्थात् भीतरसे चतुर हैं और बाहर सब गुणोंके चिह्न अङ्गोंपर हैं।

नोट—५ '*प्रेम भगति जल बिनु.........अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई*' इति। मिलान कीजिये—'**धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता। मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥ कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः॥ वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥**' (भा० ११। १४। २२—२४) भगवान् श्रीउद्धवजीसे कहते हैं कि तुम निश्चय जानो कि सत्य-दया-युक्त धर्म या तपसम्पन्न ज्ञान मेरी भक्तिसे शून्य जीवको पूर्णतया शुद्ध नहीं कर सकते। बिना रोमाञ्च हुए, बिना प्रेमसे हृदय गद्गद हुए, बिना नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहे, कैसे भक्तिका ज्ञान हो सकता है? बिना ऐसी भक्तिके चित्त ही कैसे शुद्ध हो सकता है? मेरी भक्तिसे जिसकी वाणी और हृदय गद्गद हो जाते हैं, जो बारंबार उच्च स्वरसे मेरे नाम लेकर मुझे पुकारता है, कभी हँसता, कभी रोता और कभी लज्जा छोड़कर नाचता है, गुण गाता है वह मेरा पूर्णभक्त त्रिलोकपावन है, त्रिलोकीको पवित्र कर देता है।

नोट—६ यहाँ प्रेमभक्तिको नीर कहा और दूसरी जगह उपर्युक्त विनय पद ८८ में '*बिमल बिबेक*' को नीर कहा है। इससे कुछ भेद नहीं पड़ता, क्योंकि विमल ज्ञानका फल प्रेमभक्ति है, यथा—'*बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥*' (१२२। ११) ☞ प्रेमाश्रुका बड़ा भारी मान है। श्रीसीताराम परमकरुणावरुणालय हैं, वे भक्तके आँसू नहीं सह सकते। प्रिय पाठकगण इस बातको गाँठमें बाँध रखें। जो बात किसी प्रकार भी सम्भव नहीं वह भी प्रेमाश्रुधारा प्रवाहसे सम्भव हो जाती है। भव-

* 'भक्तिजल' में 'समअभेदरूपक' है। इस अर्धालीमें 'विनोक्ति' है। व्यंगार्थद्वारा दृष्टान्तका भाव झलकता है। 'सोइ सर्वज्ञ.........' में तृतीयतुल्ययोगिता है।

बन्धनसे छूटनेका यह बड़ा सहज नुसखा है—रोइये, रोइये, रोइये। बस यह परमौषधि है।

करु०—*'अभ्यंतर मल।'* अन्त:करणकी झीनी वासना अभ्यन्तर मल है। वासनाएँ दो प्रकारकी हैं—स्थूल और झीनी (सूक्ष्म)। स्थूल वह है जो मनमें उठी और कर डाली गयी और झीनी वह है जो अनइच्छित मनमें उठती है और जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकती जैसे भूखा ब्राह्मण किसी नीच जातिके यहाँ उत्तम भोजनके पदार्थ देखे और उसका जी ललच जाय पर वह प्राप्त होनेपर भी ग्रहण नहीं कर सकता। स्थूल तो जप-तपादिसे मिट जा सकें पर झीनी नहीं मिट सकती।

पं० रा० कु०, रा० शं०—*'सोइ सर्बज्ञ।'* पहले यह दिखा आये कि जिससे श्रीरामजी मिलें वही धर्म है; अब दिखाते हैं कि सर्वगुणसम्पन्न वही है जिसमें भक्ति है। *'दक्ष'* से भीतरसे चतुर और *'लच्छनजुत'* से अङ्गोंमें सुन्दर लक्षणोंके चिह्न जनाये। मिलान कीजिये—*'सूर सुजान सपूत सुलक्षन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरि भजन इँदारुनि के फल तजत नहीं करुआई॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील स्वरूप सलोने। तुलसी प्रभु अनुरागरहित जस सालन साग अलोने॥'* (वि० १७५)

रा० प्र०—१ 'असम्भवमें दृष्टान्त' देनेका भाव कि जिसमें जो रहता है वही उसमेंसे निकलता है। अभ्यन्तर अर्थात् बहुत ही भीतर। २ *'रति होई'* में *'होई'* शब्द सब काल प्रीति बनी रहनेका बोधक है।

दो०—नाथ एक बर माँगौं राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभुपदकमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥४९॥

अर्थ—हे नाथ! मैं एक वरदान माँगता हूँ। हे राम! कृपा करके दीजिये। (वह यह है कि) आपके चरणकमलोंमें मेरा प्रेम जन्म-जन्ममें कभी न घटे॥ ४९॥

टिप्पणी—१ *'कृपा करि देहु'* का भाव कि मैंने ऐसा सुकृत नहीं किया कि जिससे जन्मजन्मान्तरमें मेरा प्रेम आपके चरणोंमें हो।

पं० रा० व० श०—*'जन्मजन्म'* से जनाया कि यह नहीं चाहते कि जन्मका अभाव हो। भरतजी और बालि इत्यादिने भी ऐसा ही वर माँगा है।

भरतजी—*'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन।'*

बालि—*'जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ।'*

किसी भक्तकी अभिलाषा है कि—**'योगः श्रुत्युपपत्तिनिर्जनवनध्यानाध्वपरिभावति स्वराज्यं प्रतिपद्य निर्भयममी मुक्ता भवन्तु द्विजाः अस्माकं तु वसिष्ठनन्दनितटे प्रोत्फुल्लकुञ्जद्रुमे सीताराघवनामधाम जुषतां जन्मास्तु लक्षावधि॥'**

वै०—प्रभु नित्यधामको प्रजासहित पधारनेवाले हैं, इसीसे ऐसा वर माँगा। यही कारण है कि ये साथ न गये।-[अधिकारी होकर सृष्टिमें बने हैं, ब्रह्माजीके साथ परमधामको जायेंगे। पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—'पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि (वाल्मी० ७। १०९। १—३) में स्पष्टरूपसे परधामयात्रामें इनका साथ होना पाया जाता है। इससे (आगेके) *'गृह आए'* को उस दिनकी यात्राका उपसंहाररूप मानना चाहिये']

प० प० प्र०—श्रीवसिष्ठकृत स्तुति इति। यह सत्ताईसवीं स्तुति है और उत्तराभाद्रपदा सत्ताईसवाँ नक्षत्र है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) भाद्रपदा=कल्याणपददाता। उत्तर=श्रेष्ठ। वसिष्ठजीकी महती श्रेष्ठता कौन कहनेको समर्थ है। (२) इस नक्षत्रमें दो तारे हैं। इस स्तुतिमें प्रभुपद और प्रभुपदरति ये ही दो तारे हैं। (३) आकार-साम्य। पूर्वाके दो तारे राम और संत तथा उत्तराके दो तारे रामपद और रामपदरति मिलकर चारपाईके समान आकार है। इन चारोंके आश्रयपर कोई भी जीव सदा विश्राम कर सकता है—*'सुखमय ताहि सदा सब आसा।'* (४) नक्षत्रका देवता अहिर्बुध्न्य है जो एकादश रुद्रोंमेंसे एक है और इस कथाके वक्ता भी शिवजी ही हैं। यथा *'गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई॥'* (५०। ८) (५) नक्षत्रकी फलश्रुति है *'पावन गग तरंग मालसे।'* और इस स्तुतिमें रघुकुलगुरुने हृदय पावन करनेका मुख्य साधन इस प्रकार

कहा है—*'प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।'* भाव कि जो इस स्तुतिको नित्य प्रेमसे गान करेगा उसका हृदय निर्मल हो जायगा।

अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए। कृपासिंधु के मन अति भाए॥ १॥

अर्थ—ऐसा कहकर वसिष्ठ मुनि घर आये। वे कृपासिंधु श्रीरामचन्द्रजीके मनको बहुत अच्छे लगे॥ १॥

टिप्पणी—१ *'कृपासिंधु'* इति। वसिष्ठजीने कहा कि 'हे राम! मुझे कृपा करके वर दीजिये' इसीसे श्रीरामजीको यहाँ *'कृपासिंधु'* कहकर सूचित कर दिया कि उनपर बड़ी कृपा की गयी। श्रीरामजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। इसीसे उन्होंने लीलाके विरुद्ध जानकर गुरुसे प्रत्यक्ष न कहा कि हमने वर दिया। *'मन अति भाए'* से (मानसिक) वर देना सूचित किया है। अथवा, वसिष्ठजीने यथार्थ वचन कहे हैं इसीसे उन्होंने उत्तर न दिया।—[पुनः, प्रभुने पुरजन-समाजमें कहा था कि वही हमारा प्रिय है जो हमारी आज्ञा करे। आज्ञा है कि हमारी भक्ति करो। वही ये माँगते हैं। अतः *'अति भाये'*—(पं० रा० व० श०)]

रा० प्र०—१ *'अति भाए'* से व्यंजित किया कि गुरु भी बनाये रहे, मर्यादा भी रखी और उनपर परम प्रसन्नता भी की, वह यह कि मुनिके मनमें भ्रम लेश भी न रह गया। [☞बालकाण्डसे यहाँतक ४० प्रश्न और उनके उत्तर हुए जो स्थल-स्थलपर दिये गये हैं। एकत्र यहाँ रा० प्र० ने दिये हैं]

२—वसिष्ठजीने भगवान्‌से मुक्ति न माँगी, वरन् भक्ति माँगी; क्योंकि ब्रह्माजीका वचन है कि तुमको परमात्मा ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। मुक्तिसे भक्ति श्रेष्ठ है।

☞*'एक बार बसिष्ठ मुनि आये'* उपक्रम है और *'अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये'* उपसंहार है।

हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ २॥
पुनि कृपाल पुर बाहेर गए। गज रथ तुरग मगावत भए॥ ३॥
देखि कृपा करि सकल सराहे। दिए उचित जिन्ह जिन्ह तेइ चाहे॥ ४॥

अर्थ—सेवकोंको सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जी और भरतादि सब भाइयोंको साथ लिया॥ २॥ फिर दयालु रघुनाथजी नगरके बाहर गये और हाथी, रथ और घोड़े मँगाये॥ ३॥ कृपादृष्टिसे देख कृपा करके सबकी सराहना की। जिस-जिसने उनको चाहा उस-उसको जो जिसके लिये उचित था दिया॥ ४॥

टिप्पणी—*'संग लिए सेवक सुखदाता'* इति। श्रीभरतादिक भ्राता और हनुमान्‌जी—ये ही सुखके दाता सेवक हैं, इसीसे इन्हींकी सेवा आगे कहते हैं। यथा—*'भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥ मारुतसुत तब मारुत करई॥'* [सेवक-सुखदाता श्रीरामजी हैं। भगवान् अपने समस्त सेवकों वानर, रीछ आदि तथा पुरवासियोंको साथ ही ले गये यह बात वाल्मी० रा०, अ० रा० आदिमें स्पष्ट कही है और श्रीपार्वतीजीने भी कही है। यथा—*'प्रजासहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।'* अतः *'सेवक सुखदाता'* विशेषण दिया। सारी प्रजाने यह प्रार्थना की थी कि जहाँ भी आप जायँ वहाँ हम सब भी जाना चाहते हैं, इसीमें हमारी प्रसन्नता और यही हमारा अक्षय धर्म है। यथा—**'गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमनुगच्छामहे वयम्। अस्माकमेषा परमा प्रीतिर्धर्मोऽयमक्षयः॥'** (अ० रा० ७। ९। १२) इत्यादि। श्रीरामजीने उनकी अभिलाषा पूरी की जिससे सब सुखी हुए। यह सब *'सेवक सुखदाता'* कहकर जना दिया। २—भरतादिक भाइयोंके साथमें हनुमान्‌जीको भी लिया, क्योंकि इनको श्रीरामजी भाइयोंके समान जानते हैं। यही भाव गुसाईंजीने वन्दनामें दिखाया है, यथा—

(१) बंदउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
(२) बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥
(३) रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥
(४) महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥

वि० त्रि०—पुर बाहर जानेके बाद फिर नगरमें लौटना नहीं कहते, और गज, रथ, तुरगको मँगवाकर उनका बाँटना कहते हैं, और इस क्रियामें सरकारका थक जाना कहते हैं, यथा (*'हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई'*)। इससे स्पष्ट है कि यह गज-तुरग-रथका विभाग इस मर्त्यधामके त्यागनेकी तैयारीसे सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाता है कि आठों पुत्रोंको आठ देशका राज्य दिया और जिसने जितना हाथी, घोड़ा, रथ चाहा उतना उसको दिया। सरकार अपने उसी सिद्धान्तपर दृढ़ रहे कि *'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू॥'*

प० प० प्र०—श्रीभरतजी और श्रीहनुमान्‌जीका निर्देश स्पष्ट है। पर लक्ष्मणजी इस समय साथ थे, यह अनुमानसूचक कोई शब्द यहाँ नहीं है। अतः इसके पूर्व ही श्रीलक्ष्मणजीकी परधामयात्रा सूचित की। [जिस कल्पमें लक्ष्मणजीकी परधामयात्रा होती है, वह इस तरह कह दी। मानसकल्पवाली कथामें लक्ष्मणजी भी साथ ही गये। यह आगेके *'बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई'* से स्पष्ट है। केवल दो भाई सब भाई नहीं हैं। (मा० सं०)]

नोट—*'गज रथ तुरग मँगावत भए'* इति। पंजाबीजीका मत है कि गज, रथ, घोडे आदिके सुन्दर आकारके विमान मँगाये और उनकी सराहना करके उनपर इच्छानुसार प्रजाको सवार कराया। यह गुप्तरीतिसे इन शब्दोंसे सूचित कर दिया है।

गौड़जी—परधामगवनके सम्बन्धमें जो अन्तिम दृश्य दिखाया है उसमें श्रीसीताजीकी चर्चा न करके यह सूचित किया कि सीताजीका वियोग हो चुका है और वे अपने इस लीलाविग्रहको अपनी माता पृथ्वीकी गोदमें सौंपकर परधाममें अपनी पराविभूतिसे पधार चुकी हैं। इसीलिये पुर बाहर जानेमें भरतादिक तथा हनुमान्‌जीहीकी चर्चा है। अन्तमें *'सीतल अमराई'* में जानेसे यह भी संकेत है कि यह अमराई सीतामय है, इसीमें प्रभु जाकर अपने अवतार-लीला-जनित श्रमसे विश्राम पाते हैं, जिस तरह सीताजी गुप्तरूपसे मौजूद हैं उसी तरह 'शीतल' शब्दमें गुप्तरूपसे उनका संकेत है।

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥ ५॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥ ६॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥ ७॥

अर्थ—समस्त श्रमोंके हरण करनेवाले प्रभुने (गज-बाजि-रथादिके बाँटनेमें) श्रम पाया। (उस श्रमके हरण करनेके निमित्त) वे शीतल अमराईमें गये॥ ५॥ श्रीभरतजीने अपना वस्त्र बिछा दिया। प्रभु उसपर बैठ गये, सब भाई सेवा कर रहे हैं॥ ६॥ तब पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जी पवन (हवा अर्थात् पंखा) करने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया॥ ७॥

पां०—पार्वतीजीने नौ प्रश्न बालकाण्डमें किये जिनमेंसे चारका उत्तर बालकाण्ड है, पाँचवेंका अयोध्या, छठेका अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, सातवेंका लंका, आठवेंका उत्तरकाण्ड राजगद्दी आदि व्यवहारतक है और नवेंका उत्तर इस चौपाईमें समाप्त है। श्रीरघुनाथजीकी परधामयात्रा उपासकोंकी उपासनाके प्रतिकूल है, क्योंकि वे सदा रघुनाथजीको अयोध्याजीमें स्थिर ध्यान करते हैं, इसीसे गोसाईंजीने इस युक्तिसे उस प्रश्नका उत्तर दिया कि उपासना भी बनी रही और प्रश्नका उत्तर भी हो गया। प्रश्नका उत्तर इस प्रकार हुआ कि सबका श्रम हरकर श्रीभरतादि भाइयों, हनुमान्‌जी और सारी अवधवासी प्रजाको उनकी इच्छानुसार सवारी देकर अपने साथ शीतल अमराई परधामको गये।

टिप्पणी—१ *'प्रभु श्रम पाई'* इति। जब प्रभुसे महाप्रलय होता है तब वे श्रमसे श्रमित होते हैं, यथा—'**तन्द्रायमानः।**' उस श्रमकी गर्मीकी शान्तिके लिये जब शेषके ऊपर सोते हैं तब गर्मी शान्त होती है। उसी प्रकार यहाँका वर्णन है, वैसा ही यहाँ कह रहे हैं कि सवारियाँ बाँटनेमें जो परिश्रम हुआ उसे दूर करनेके लिये शीतल अमराईमें गये। श्रम पाना और शीतल अमराईमें जाना कहकर अभिप्रायसे परधामयात्रा ग्रन्थकारने सूचित की है, इसीसे शीतल अमराईसे फिर श्रीरामजीका लौटकर घर आना नहीं लिखा।

पं०—प्रत्यक्ष तो यह है कि लोगोंको गजादि देकर बागमें विश्राम करने लगे पर गुप्त सूक्ष्म भाव यह है कि वसिष्ठजीको नगरमें स्थित करके आप पुरबाहर गये और गज, रथ, घोड़े इत्यादिके सुन्दर आकारके विमान मँगा उनकी सराहना कर उनपर इच्छानुसार प्रजाको सवार कराया। श्रम यह कि अवतारका जितना कार्य था वह सब कर चुके, कुछ करना बाकी न रहा। *'शीतल अमराई'* अर्थात् वैकुण्ठमें गये। भरतादिक पार्षदरूपसे सेवा करने लगे। यह प्रसंग परधामयात्राका है। ऐसा न होता तो ग्रन्थकार ग्रन्थकी समाप्तिका विषय प्रभुका मन्दिरमें या कल्पतरुतले ध्यान दिखाकर प्रसंगको समाप्त करते।

मयूख—शीतल अमराईमें गये फिर घर न लौटे, गुप्तार कुञ्जहीमें रह गये। जो परविभूतिके माननेवाले हैं उनका सिद्धान्त भी सिद्ध होता है परंतु विशेषकर नित्यधाम सिद्ध होता है। अयोध्या नित्यधाम है यह सिद्ध होता है, क्योंकि मूलमें 'गए' पाठ है अर्थात् नित्यधामको गये।

वै०—सब पुरवासियोंको विमानोंपर चढ़ाकर परधाम (संतानक लोक) को भेजा, परिश्रम करनेसे श्रम हुआ। तब शीतल अमराई साकेतको गये। माधुर्यमें चंदनवनमें गये जहाँ सदा शीतल पवन बहता है।

रा० प्र०—*'मारुतसुत मारुत करई'* से भी यही नित्य अवध निश्चय है।

रा० प्र०—१ *'अवध अशोकवाटिकामें अमर। आइ जहाँ सीतल होत। ऐसी सुभग अवधिकी बाग। डार-डार और पात-पातमें उमगत रामचरन अनुराग। चारिउ फल नेवछावरि कीजे फलनमें अधिक सोहाग। रामदेव जामें नित बिहरत ते निरखहिं जिनके बड़भाग। लाल गुलाल सुमन जह महकत गए अवधि बिपिनमें प्रभु नित बिहरत याको भेद कोऊ जानै। सियाजू बिहरत श्रीवनमें रामनामको अरथ न जानत तिनको बिछुरन भासत है।'* पुनश्च—२ *'निरवधि अवधि राम निज जानो। सियजू सरजू लहरत है। इहइ परमपद परमधामहूँ श्रुतिमति इतनोई ठहरत है। जुगलदेव धामनमें सियबर गए नहीं धुज फहरत है। जहँके तहँ समाय रहे अस बेद नगारा घहरत है॥ १॥'* पुनः, ३—*'वा छबि पै मैं वारी श्रीअवधपुरीकी। भूपनगनसे सतजन जगमग कथा रतन उजियारी। श्रीसरजू शृंगार हारसी जामे मंगलकारी। नित विहार सियरामलयनको जहाँ ललित फुलवारी। डार डार और पात पात सब राम नाम उदगारी॥ श्रीसरजू सियराम अवधि अस मानत कोउ बिचारी। दशरथनंदन जनकनंदिनी सब ये और लबारी॥ ब्रह्ममौन बैकुंठौ का है का कैलास बिकारी। त्रिगुन तीन देवन की ते हैं यह तौ सबसे न्यारी॥'*

टिप्पणी—२ *'निज बसन डसाई।'* भाव कि उन्होंने वस्त्र नहीं बिछाया वरन् मानो अपना शरीर रघुनाथजीके बैठनेके लिये बिछा दिया। यह भरतजीके हृदयका भाव है। [*'सेवहिं सब भाई।'* सेवा यह कि भरतजी छत्र लिये हैं, दहिने लक्ष्मणजी, बायें शत्रुघ्नजी चँवर लिये हैं, हनुमान्‌जी पंखा लिये पवन कर रहे हैं, सम्मुख खड़े प्रभुकी माधुरी देख प्रेममें मग्न हैं। (वै०)]

३—'मारुतसुत' हैं, अत: पवन करनेमें बड़े प्रवीण हैं। उनकी सेवासे श्रीरामजीके शरीरमें पुलकावली हो रही है और नेत्रोंमें जल भर रहा है। अथवा, अभिप्रायसे जनाते हैं कि रामवियोगसे हनुमान्‌जीके नेत्रोंमें जल भर रहा है, इत्यादि। ('शीतल अमराई' में जाना और 'मारुतसुतका मारुत करना' कहकर जनाया कि गर्मीके दिन थे। परधामयात्रा चैत्र शु० ८ को ही कही जाती है।)

४—*'मारुतसुत मारुत करई'* में पदार्थावृत्ति दीपक है।—(वीर)।

मा० म०—श्रमित देखकर, अथवा अपने ऊपर स्नेह देखकर, अथवा पर-सुखसे अपना सर्वांग भीगा हुआ देखकर हनुमान्‌जी वायु करने लगे। हनुमान्‌जीके प्रेमविवश होकर हनुमान्‌जीको प्रभुने अपने समीप रखा।

प० प० प्र०—महाप्रस्थानके समय भगवान् जब नगर छोड़कर बाहर जाते हैं तब **'अव्याहरन् क्वचित् किंचिन्निश्चेष्टो नि:सुखः पथि। निर्जगाम**.........।' (वाल्मी० ७। १०९। ५) यह भाव *'श्रम पाई'* से यहाँ सूचित किया है। (जिन कल्पोंमें) हनुमान्‌जीको साथ नहीं ले गये उनमें वियोगदु:खसे हनुमान्‌जीके आँसू निकल आये।

हनूमान सम नहिं बड़ भागी। नहिं कोउ रामचरन अनुरागी॥ ८॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥ ९॥

अर्थ—हे गिरिजे! श्रीहनुमान्‌जीके समान न कोई बड़ा भाग्यवान् है और न कोई श्रीरामचरणानुरागी ही है कि जिनकी प्रीति और सेवा बारंबार प्रभुने अपने मुखसे वर्णन की है॥ ८-९॥

टिप्पणी—१ (क) *'हनूमान सम नहिं बड़ भागी।'''''* इति। श्रीरामचरणानुरागी होनेसे जीव बड़भागी होता है। *'अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी।'* (१। २११ छन्द १) देखिये। अथवा, (ख)—सभी भाई हनुमान्‌जीके ऋणी हैं, इसीसे वे बड़भागी कहे गये। इनके समान कोई रामचरणानुरागी नहीं है, यथा श्रीमद्भागवते—**'दास्यता कपिपते।'**

वै०—१ इस समय प्रभुके साथ चार ही प्राणी हैं। उनमेंसे तीन भाई तो प्रभुके अंशभाग ही हैं, चौथे हनुमान्‌जी हैं। सेवकोंमेंसे केवल एक यही हैं। इसीलिये इनके अचल अनुराग और बड़े भाग्यकी प्रशंसा करते हैं कि यद्यपि अवधवासी अनेक सेवक-सखा अनुरागी हैं कि प्रभुका वियोग नहीं सह सकते तथा प्रभुने अपने साथ हनुमान्‌जीको ही रखा, जिससे इनको क्षणभरका भी वियोग न सहना पड़ा, इसीकी प्रशंसा शिवजी करते हैं। २—*'नहिं कोउ बड़भागी'* इति। लौकिक भाग्यके आठ अङ्ग हैं, उन सब लौकिक सुखोंको प्रभुपदप्रेमपर इन्होंने वारण कर दिये। सब कुछ एकमात्र प्रभुको ही मानते हैं। यथा—शिवसंहितायाम्

'पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवन्मम सर्वदा। श्यालवद्धामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥
पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्॥
राज्यवत्स्वामिवद्रामो भ्रातृवद्बन्धुवत्सदा। धर्मवदर्थवद्रामः काममोक्षादिवन्मम॥
व्रतवत्तीर्थवद्रामः सांख्ययोगादिवत्सदा। दानवज्जपवद्रामो यागवन्मन्त्रवद्बलम्॥
राज्यवत्सिद्धिवद्रामो यशोवत्कीर्त्तिवन्मम। घृतादिरसवद्रामो भक्ष्यभोज्यादिवत्समे॥
गन्धमाल्यादिवद्रामो भूषणाम्बरवत्सदा। नृत्यवद्गीतवद्रामो वाद्यवन्मधुरोत्तमः॥
अश्ववद्गजवद्रामः पितृवत्सुहृदादिवत्। दासीवद्दासवद्रामो वसन्तादिवदेष मे॥
बालवद्वृद्धवद्रामो विटलंपटवद्रसे। मत्तप्रमत्तवद्रामो रामःकेलिरसादिषु॥
विस्मृतौ शत्रुवद्रामश्चित्तस्त्येये च चौरवत्। वैद्यवद्विरहो व्याधिनाशने च सदा मम।

या प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रासे सीतापतावेव निधिवन्निहता मुने॥' इत्यादि सब भावोंसे प्रभुकी सेवा करनेवाला एकपाद तथा त्रिपादविभूतिमें आपके समान कोई न हुआ, न है, न होगा। तभी तो गोस्वामीजीने कहा है—*'सेवा केहि रीझि राम किये सरिस भरत। सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।'* (वि० १३४)

२—*'बार बार प्रभु निज मुख गाई'* इति। भाव कि जहाँ प्रभुकी प्रसन्नता दुर्लभ है, वहाँ प्रभुने अपने मुखसे कपिकी प्रीति और सेवा बखान की है। हनुमान्‌जी रामयश-कथन-श्रवणके आधारपर इस लोकमें हैं, इसीसे रामजीने हनुमान्‌जीके गुणगानपर रामायण समाप्त की। *'प्रीति सेवकाई बार बार गाई',* यथा—

प्रीति— **'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'** (४। ३। ७)
सेवकाई— **'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥**
प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥' (५। ३२। ५)

दो०—तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन।
गावत लागे राम कल कीरति सदा नवीन॥५०॥

अर्थ—उसी मौकेपर नारदमुनि हाथमें वीणा लिये हुए आये और श्रीरामजीकी सुन्दर और नित्य नवीन कीर्ति गाने लगे॥ ५०॥

नोट—*'करतल बीन।'* नादजीके हाथमें सदा वीणा रहती है, इसीसे इनका 'वीणाधर' नाम ही श्रीनाभा स्वामी और श्रीअग्रस्वामीने दिया है। पुनः, यथा—*'एक बार करतल बर बीना। गावत हरि गुन गान प्रबीना॥'* *'यह बिचारि नारद कर बीना।'*

इस अवसरपर किसीका प्रणामादि नहीं कहा गया, जैसे कि आ० ४१ में वर्णित है। दोनों ही समय नारद पृथ्वीपर उनके पास आये। यथा—*'यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ गावत रामचरित मृदु बानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥ करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥'* (आ० ४१। ८—११) *'सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गये॥'* (४—६ छंद)

इस भेदका समाधान यह है कि यहाँ भी प्रणाम किया गया है। यह बात *'गावन लागे राम कल कीरति'* से लक्षित होती है। कीर्त्तिगानमें *'नमामि'* आदि कोई शब्द आते ही हैं, जैसे कि वेदस्तुतिके विषयमें देख पड़ता है। वेद *'लगे करन गुनगान'* कहकर जो गुणगान उनका है उसके प्रत्येक छन्दमें 'नमामहे' या इसके पर्याय शब्द आये हैं; वैसे ही यहाँ *'गावन लागे राम कल कीरति'* में भी समझना चाहिये। इस समय परधामयात्रा हो रही है, बैठने-बिठानेका समय नहीं, ऐश्वर्यभावसे स्तुति है। ऐसे ही लंकामें कुम्भकर्णवधपर नारदजीने *'गगनोपरि हरि गुन गन गाये।'* वहाँपर भी प्रणाम नहीं है इसका भी कारण यही है कि गुण-गानमें प्रणाम हो गया*।

करु०—इस समय नारदजी आये कि आज्ञा हो तो साथ-साथ जायँ नहीं तो ब्रह्मलोकमें ही रहें। इसीसे रघुनाथजीने स्तुति सुनी और शीलके कारण 'नहीं' न किया किंतु चुप ही रहे। जिससे वे समझ गये कि साथ ले जानेकी आज्ञा नहीं है। यह भाव *'मामवलोकय.........'* से ध्वनित होता है।

टिप्पणी—१ *'कल कीरति सदा नवीन'* इति। (क) नारदजीका गान और रामजीकी कीर्ति ये दोनों कल अर्थात् मधुर है। 'कल' देहरीदीपक है। कीर्ति सदा नवीन है, इस कथनका भाव यह है कि श्रीरामजीकी कीर्ति इतनी अधिक है कि नारद मुनि सदा नवीन ही गाते रहते हैं। अथवा कीर्ति नदीरूपा है। यथा—*'कीरति सरित छहूँ रितु रूरी।'* रामयश जल है जिससे वह भरी हुई है, यथा—*'राम बिमल जस जल सरिता सो'* (बा०)। इसीसे सदा नवीन कहा है। नदीके प्रवाहका जल सदा नया ही बना रहता है। पुनः, 'कल कीर्त्ति' अर्थात् रामायण। 'सदा नवीन' अर्थात् अपनी बनायी या मुनियोंकी।

गौड़जी—नारदजीका आना और स्तुति करना और फिर ब्रह्मधामको चले जाना, यह उसी तरहका बारंबारका दृश्य है, जिस तरह श्रीसाकेतलोकमें हवा खानेके लिये जाना और वहाँ वर्णित प्रकारसे बैठना नित्य-नित्यका दृश्य है। इसी स्वाभाविक और नित्य दृश्यके साथ मानसकारने रामायणी कथाका उपसंहार किया है। यह कथा आदिसे अन्ततक बड़े ही मनोहर अभिनयके रूपमें है, यद्यपि यह श्रव्यकाव्य है दृश्य नहीं, तो भी जन्मकी कथा जिस तरह एकायकी दृश्यरूपसे पाठकके सम्मुख आती है उसी तरह अन्तिम पटाक्षेप भी परधामके इस मनोहर दृश्यके साथ होता है। औरोंने महारानीका वियोग देकर इसे दुःखान्त बनाया है, परंतु परमयोगी वियोगी भगवान् शंकरने अपनी रचनामें दुःखान्त दृश्य न रखकर सुखान्त दृश्य रखा है। अन्तमें प्रभुका वियोग-दुःख उनसे सहा नहीं गया। इसीलिये सत्यरक्षार्थ उस दृश्यको व्यंग्यके नेपथ्यमें रखकर ही सन्तोष किया।

मामवलोकय पंकज लोचन। कृपाविलोकनि सोच बिमोचन॥ १॥
नील तामरस स्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि॥ २॥
जातुधान बरूथ बल भंजन। मुनि सज्जन रंजन अघ गंजन॥ ३॥

अर्थ—हे शोचके छुड़ानेवाले! हे कमलदललोचन! कृपादृष्टिसे मुझको देखिये। (भाव कि वैसे तो आप सबको देखते ही हैं पर इस समय मुझे अपना रक्ष्य जानकर देखिये)॥ १॥ हे हरि अर्थात् भक्तोंके दुःखोंके हरनेवाले भगवान्! आप नील कमलके समान श्यामवर्ण और कामारि महादेवजीके हृदयकमलके

* १ मा० म०—नारदजी उस समय पहुँचे जब प्रभु हनुमान्‌जीका यश और उनका प्रेम वर्णन कर रहे थे, इसीसे उन्होंने नारदकी ओर चित्त नहीं दिया, प्रशंसा करते ही रहे।

(प्रेमरूपी) मकरंद-रसके पान करनेवाले भ्रमर हैं॥ २॥ आप निशिचरसमूहके बलको तोड़नेवाले हैं, मुनियों और सज्जनोंको आनन्द देनेवाले और पापोंके नाशक हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'पंकज लोचन'* का भाव कि इनसे तापत्रय दूर होते हैं। (ख) **'कृपाविलोकनि'** का भाव कि हममें ऐसे सुकृत नहीं हैं कि शोचको दूर कर सकें, आप कृपादृष्टिसे देखिये, उसीसे शोच दूर होंगे। (ग) प्रश्न—नारदजीको क्या शोच था जिसके छुड़ानेके लिये कृपादृष्टिसे देखनेको कहते हैं? उत्तर—नारदजीने जो भगवान्‌को शाप दिया था कि तुम नर-शरीर धारण करो और स्त्री-विरहसे दुःखी हो, उसीका सोच हृदयमें है। वे सोचते हैं कि यह सारा श्रम हमारे ही कारण प्रभुको हुआ। वही बात अरण्यकाण्डमें लिखते हैं, यथा—*'बिरहवंत भगवंतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेषी॥ मोर श्राप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥'* (आ० ४१। ५-६) उस सोचके छूटनेके वास्ते कृपादृष्टि चाहते हैं। (मयंककारका मत है कि भगवान् श्रीहनुमान्‌जीकी प्रशंसा कर रहे हैं, नारदजीकी ओर देखते ही नहीं, इसीसे 'मामवलोकय' से स्तुति प्रारम्भ कर रहे हैं।)

२ *'नील तामरस स्याम काम अरि।.........'* इति। (क) पहले *'शोच बिमोचन'* विशेषण दिया पर शोचका छुड़ाना हृदयके भीतरका काम है। यथा—*'हृदि बसि राम काम मद गंजय।'* (३४। ८) *'मनसिज करि हरि जन सुखदातहि।'* (३०। ६) इसीसे नील कमल-सम-श्याम अर्थात् सौन्दर्य कहा और शिवजीके हृदयमें वास करना कहा। नीलकमलके दर्शनसे हृदयमें आनन्द होता है। कृपा करना और शोच दूर होना, ये दोनों हृदयके काम हैं। इसी प्रकार नील कमल-समान श्यामशरीर और कामारिके हृदयमें निवास करना यह भी हृदयके काम हैं। आगे बाहरका काम कहते हैं। [वै०—कामारि, यथा—*'जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम। तुलसी दूनौ ना मिलैं रवि रजनी एक ठाम॥'* रा० प्र०-काम अरि=पूर्ण काम, कामनाहीन।]

नोट—☞ स्मरण रहे कि भगवान् श्रीरामके अङ्गोंके लिये कमलके अनेक पर्यायवाची शब्द आये हैं। हम उन्हें यहाँ भक्तराज श्रीवनदासजीके शब्दोंमें उद्धृत करते हैं—*'कमल कंज पंकज जलज सरसिज नलिन सरोज। नीरज बारिज पंकरुह जलरुह पदुम पथोज॥ पुंडरीक अरविंद सरोरुह सरसीरुह जलजाभ। अंबुज राजिव नयन तामरस रामचरन अस लाभ॥ ऐसैं मुख ऐसैं ऐसैं करु अरु काय। बनादास ऐसै चरन चित न कहूँ चलि जाय॥'*

टिप्पणी—३ *'जातुधान बरूथ बल भंजन।.........'* इति। तात्पर्य कि आप राक्षसोंको मारकर बाहरसे सुख देते हैं और पापोंका नाश करके भीतरकी शुद्धि करते हैं। राक्षसनाश होनेसे मुनि-सज्जन सुखी होते हैं। यथा—*'मुनि रंजन महि मंडल मंडन॥'* (लं० ११४। छंद) *'जनरंजन भंजन सोक भयं।'* (११० छंद) *'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुन नर मुनि सब के भय बीते॥'* (३। २१। १) इत्यादि।

रा० शं०—*'जातु धान बरूथ बलभंजन.........गंजन'*, यथा—**'दससीस आदि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने', 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह', 'नाम सकल अघपुग नसावन', 'मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई।'** अघका गंजन आपहीके हाथ है नहीं तो कितना ही उपाय करो नाश न होंगे—*'करतहुँ सुकृत न पाप नसाहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥'* (वि० १२८)

भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। असरन सरन दीन जन गाहक॥ ४॥
भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खरदूषन बिराध बध पंडित॥ ५॥
रावनारि सुखरूप भूप बर। जय दसरथ कुल कुमुद सुधाकर॥ ६॥

अर्थ—ब्राह्मणरूपी नयी खेतीके (सिंचन और पालनके) लिये आप नवीन मेघ-समूहके समान हैं। जिसको कोई शरण देनेवाला नहीं उसके आप शरण्य (अवलम्बदाता, रक्षक) हैं और दीनजनोंको ग्रहण करनेवाले हैं॥ ४॥ अपने भुजबलसे आपने पृथ्वीका भारी बोझा उतारा व चूर-चूर कर डाला। आप खरदूषण और विराधके वध करनेमें पण्डित हैं॥ ५॥ हे रावणके शत्रु! हे आनन्दरूप! हे राजराजेन्द्र, राजाओंमें श्रेष्ठ! हे दशरथमहाराजके कुलरूपी कुईंके चन्द्ररूप श्रीरामजी! आपकी जय!॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'नव बृंद बलाहक'।* मेघोंसे नवीन ही खेती बढ़ती है, पकी खेती नहीं बढ़ती। (ख) *'भूसुर ससि………'*, इति। मुनि और सज्जन कुछ नहीं चाहते, इसीसे उनके *'रंजन'* अर्थात् उनपर प्रीति करना लिखा-*'रंज रागे'* रंज धातुका अर्थ राग वा प्रेम है। और, राज्यभरके ब्राह्मण केवल श्रीरामजीके भरोसे अपने-अपने धर्मका निर्वाह करनेमें लगे रहते हैं, इसीसे वे उनका पालन-पोषण करते, मेघसमान पदार्थोंकी वृष्टि करते हैं—(देखिये, वनयात्रा-समयमें वर्षासन दे गये)।

२ (क) *'भुजबल बिपुल भार महि खंडित'* (अर्थात् महिभार-भंजन) कहकर तब आगे बताते हैं कि वह भार क्या था? खरदूषणादि भार थे? तात्पर्य कि जहाँ बलका काम हुआ वहाँ आप बलसे मारते हैं और जहाँ बलका काम नहीं वहाँ पण्डिताई अर्थात् युक्तिसे मारते हैं। खरदूषण और विराधको युक्तिसे मारा था, यथा—*'देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो', 'भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खलबृंद निकंद महा कुसलं।'* (लं० ११० छं० प० पु०) अ० २८१ श्लोक ३०—४८ में वर्णित अष्टोत्तर-शतनामोंमेंसे 'विराधवधपंडित' चौबीसवाँ एक नाम श्रीरामजीका है। यथा—**'कौसलेयः खरध्वंसी विराधवधपण्डितः**। यह इतना अद्भुत कार्य हुआ कि यह नाम ही पड़ गया, विराधको पृथ्वीमें गाड़ दिया। (ख) 'रावनारि' कहकर *'दशरथकुलकुमुद………'* कहनेका भाव कि रावणवधसे यह कुल प्रफुल्लित हुआ। विशेष *'रघुबंस बिभूषन दूषन हा।'* (लं० ११० छं०) देखिये।

वै०—'भूपवर' अर्थात् जितने राजा हुए ऐसा राज्य, प्रजापालनादि किसीने न किया। सुखरूपसे आनन्दघन परात्पर ब्रह्म जनाकर रावणके नाशके लिये भूपवर राजाधिराजरूपसे अवतीर्ण होना कहा।

मयूख—*'जय दसरथ कुलकुमुद सुधाकर'* का भाव यह है कि कुमुद श्वेतकमलको कहते हैं। लक्ष्मणजीने वनमें भली प्रकार श्रीरामचन्द्रकी सेवा की है। अतः यहाँ कुमुद लक्ष्मणजीको कहा है। कि० में 'कुन्देन्दीवर' इत्यादि कहा था।

सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम॥ ७॥
कारुनीक ब्यलीक मद खंडन। सब बिधि कुसल कोसलामंडन॥ ८॥
कलिमलमथन नाम ममताहन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनतजन॥ ९॥

शब्दार्थ—**ब्यलीक**=दुःख देनेवाले,—**'पीडार्थेऽपि व्यलीकम्' इत्यमरः, 'व्यलीकमप्रियकार्यवैलक्षेष्वपि पीडने इति विश्वः।'**=दुःख, कष्ट। वह अपराध जो कामके आवेगके कारण किया जाय। (श० सा०)। =कपट—(पं० रा० कु०)।=हृदयमेंकी मायाकृत गुणकी तपन—(पं० रा० व० श०)। गीतावलीमें भी यह शब्द आया है, यथा—*'संकर हृदि पुंडरीक निबसत हरि चंचरीक निर्ब्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई।'*=अप्रिय करना, अकार्य करना। **कारुणीक**=करुणामय।

अर्थ—आपका सुन्दर यश पुराणों, वेदों और शास्त्रोंमें प्रकट है। देवता, मुनि और संत-समागम होनेपर उसे गाते हैं॥ ७॥ आप करुणायुक्त हैं, व्यलीक और मदके नाश करनेवाले, सब प्रकारसे कुशल और श्रीअयोध्याजीके भूषण हैं॥ ८॥ आपका नाम कलिके पापोंको मथ डालनेवाला और ममताका नाशक है। हे तुलसीदासके प्रभु! शरणागतकी रक्षा कीजिये॥ ९॥

वै०—*'जय दसरथकुल………'* तक कीर्तिगान की, अब सुयश कहते हैं।

टिप्पणी—१ (क) बल और कुल कहकर अब यश और करुणा कहते हैं। (ख) [पं० रा० व० श०—*'सब बिधि'* अर्थात् जिस विधिसे जिसकी कुशल हो सकती है उसी विधिसे उसका कुशल करनेमें प्रवीण हो। यथा—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।'* (२। २५४। ५) *'तुलसिदास प्रभु'* कहकर नारदके मुखसे श्रीरामजीका और अपना स्वामी-सेवक-भाव पुष्ट किया। यहाँ 'भाविक अलंकार' है।] *'पाहि'* का भाव कि एक बार *'पाहि'* कहनेसे आप भवसे तार देते हैं, यथा—*'पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन तरन।'* गी० (५। ४३) अतः मेरी भी भवसे रक्षा कीजिये।

'कलिमलमथन नाम.........', यथा—*'नाम सकल कलि कलुष निकंदन।'* (१। २४। ८) *'रामनाम नर केसरी कनक कसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल।'* (१। २७) *'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती।'* (१। २५। ८) (ममताका कारण मोह ही है। मोहके नाशसे ममत्वका नाश हो गया)। शेष प्रमाण बालकाण्डमें आ चुके हैं। नाम-नामीके ऐक्यसे मानसमें *'ममताहन'* के उदाहरण ये हैं—*'मद मोह महा ममता रजनी। तम पुंज दिवाकर तेज अनी।'* (१४ छंद) (शिवकृतस्तुति), *'नमत राम अकाम ममता जहि।'* (३०। ५)

दो०—प्रेम सहित मुनि नारद बरनि राम गुन ग्राम।
सोभासिंधु हृदय धरि गए जहाँ बिधि धाम॥५१॥

अर्थ—प्रेमसहित श्रीरामजीके गुणग्राम (यश) वर्णन करके नारद मुनि शोभासागर* श्रीरामजीको हृदयमें धरकर जहाँ ब्रह्माजीका धाम था वहाँ अर्थात् ब्रह्मलोकको गये॥ ५१॥

टिप्पणी—१ *'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन। गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन॥* ५० उपक्रम है और *'प्रेम सहित मुनि नारद.........'* उपसंहार है। प्रसंगके आरम्भमें *'गावन लागे'* कहा और समाप्तिमें *'बरनि रामगुनग्राम'* कहा, अर्थात् गुण-वर्णनकी समाप्ति की। ☞श्रीरामजीकी परधाम-यात्रा नहीं कही, केवल श्रीपार्वतीजीके प्रश्नद्वारा यह जना दिया है कि श्रीरामजी परधामको गये। श्रीपार्वतीजीका प्रश्न पूर्व लिखा जा चुका है। इस प्रश्नका उत्तर शिवजीने नहीं दिया, क्योंकि वेद-पुराणका मत है कि श्रीरामजी अयोध्याको छोड़कर एक पद भी कहीं बाहर नहीं जाते। ३—राज्यपर्यन्त रामचरित कहा अब उसकी समाप्ति करते हैं, जैसा कि आगेके वचनोंसे स्पष्ट है।

पं० रा० व० श०—गुणगान दो तरहका होता है—एक साधारण, दूसरा प्रेमसहित। प्रेमसहित गानसे शोभाधामका हृदयमें आविर्भाव हो जाता है—*'प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।'* साधारणसे करते-करते कभी आविर्भाव हो जायगा। नारदजीका यह नित्यका चरित है कि वे नित्य बारम्बार अयोध्याजीमें आते और चरित देखकर ब्रह्मलोकमें जाकर सुनाते हैं वैसे ही अब भी किया। यहाँतक गोस्वामीजीने रामायणका चरित कहा। शीतल अमराईमें चरितकी समाप्ति की।

वि० त्रि०—उमाने जो प्रश्न किया था कि *'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम'* उसीका उत्तर शङ्करभगवान् देते हैं कि प्रेमके सहित नारदमुनिने रामजीके गुणग्रामका वर्णन करके कृपासिंधु रामजीको हृदयमें रख लिया और ब्रह्मलोकमें चले गये। भाव यह कि भक्तका हृदय ही उनका निजगेह है। (यथा—*'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु उर सो राउर निज गेह'*) उसीमेंसे निकले थे (यथा—*'बंचेहु मोहि जवन धरि देहा। सोइ तन धरहु साप मम एहा'*) और उसीमें समा गये।

नोट—करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि सब भाइयों और हनुमान्‌जीके सहित श्रीरामचन्द्रजी पृथक्-पृथक् अन्तर्धान होकर परम दिव्य विमानोंपर चढ़कर परविभूतिको गये। तदुपरान्त सब अवधवासी वानर और ऋक्ष आदि परम दिव्य स्वरूप होकर गये। प्रमाण ब्रह्मरामायणका देते हैं यथा—**'यानस्थो रघुनन्दनः परपुरीं प्रेम्णागमद् भ्रातृभिर्लोकानां शिरसि स्थिता मणिमयी नित्यैकलीलां पदा। सौमित्रिश्च तदा कलेन प्रथमं रामाज्ञया वर्त्तितस्तमेव क्रमकेन बन्धुमिलितो रामेण साकं गतः।'**

पर मानसचरित ऐसा नहीं है। यहाँ सब भ्राता और हनुमान्‌जी प्रभुके साथ ही हैं। 'शीतल अमराई' में जानेका प्रसंग किसी अन्य ग्रन्थमें है इसका पता मालूम नहीं। पर इस कथनसे कि श्रीअयोध्यामें ही

* मा० म०—'शोभासिंधु' का भाव। भरतजीके पीताम्बरपर, जो बिछा हुआ है, श्रीरामचन्द्रजीके शरीरकी आभा पड़नेसे वह हरा हो गया है; वही मानो इस सिंधुका किनारा है। श्रीरामचन्द्र इसके स्थल हैं। जिसमें हनुमान्‌जीका प्रेमरूपी जल भरा हुआ है। हनुमान्‌जी वायु कर रहे हैं, वही मानो सुखदायक पवनवृन्दका प्रवाह है। प्रेमाश्रु तरंग है।

शीतल अमराईमें प्रभु गये, ग्रन्थ यह स्पष्ट बता रहे हैं कि वे श्रीअयोध्या नामक धाममें ही रहे, लीला-विभूति अयोध्यासे त्रिपादविभूति अयोध्यामें ही गये। अतः अयोध्या नाम देनेकी आवश्यकता न हुई, अन्य किसी नामके लोकको जाना होता तो उसका नाम अवश्य देते। दूसरे, कवि द्विभुजरूपसे, जिससे यहाँ माधुर्य लीला कर रहे थे उसी रूपसे, शीतल अमराईमें जाकर निवास करना लिखते हैं। इस रूपसे भगवान् श्रीअयोध्या छोड़ और किसी लोकमें नहीं रहते हैं। अतः इस कथनसे भी श्रीअयोध्याकी ही यात्रा दिखायी। अयोध्याके विषयमें विशेष लेख महानुभावोंके पूर्व आ चुके हैं।

यदि अयोध्या नित्य नैमित्य दोनों पृथक्-पृथक् हैं तो शीतल अमराईमें सरकारका जाना और गुप्त रीतिसे परधाम-यात्रा कहनेमें क्या रहस्य है? इसका उत्तर श्रीरामानुजाचार्य स्वामी (वृन्दावन) यह लिखते हैं कि 'दोनों अयोध्या नित्य हैं। भगवान्‌को परोक्षवाद प्रिय है—'**परोक्षवादा ऋषयः परोक्षो हि मम प्रियः**', इसीसे कविने परोक्षवादसे परधाम-यात्रा कही। शीतल=शुद्ध सत्त्वमय; अमराई=नित्य धाम, अमर=पार्षद। पद्मपु० उत्तरकाण्ड २२९ अ० में अयोध्या धामका वर्णन है। यथा—'**त्रिपादविभूतेर्लोकास्तु असंख्याताः प्रकीर्त्तिताः। शुद्धसत्त्वमयाः सर्वे ब्रह्मानन्दसुखाह्वयाः॥ १॥ सर्वे नित्या निर्विकारा ये च रागादिवर्जिताः। सर्वे हिरण्मयाः शुद्धाः कोटिसूर्यसमप्रभाः॥ २॥ सर्वे वेदमया दिव्याः कामक्रोधविवर्जिताः। नारायणपदाम्भोज-भक्त्यैकरससेविताः॥ ३॥ तद्विष्णोः परमं धाम यान्ति ब्रह्मसुखप्रदम्। नानाजनपदाकीर्णं वैकुण्ठं तद्धरेः पदम्॥ १०॥ प्राकारैश्च विमानैश्च सौधे रत्नमयैर्वृतम्। तन्मध्ये नगरी दिव्या सायोध्येति प्रकीर्तिता॥ ११॥ मणिकाञ्चनचित्राद् या प्राकारैस्तोरणैर्वृता। चतुर्द्वारसमायुक्ता रत्नगोपुरसंश्रिता॥**'

प० प० प्र०—१ नारदकृत स्तुति अट्ठाईसवीं स्तुति है और नक्षत्रमण्डलका अट्ठाईसवाँ (अन्तिम) नक्षत्र रेवती है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) इसमें ३२ तारे हैं और स्तुतिमें ३२ संख्यावाचक 'मंडन' शब्द है ही। मण्डन=भूषण। भूषणोंकी संख्या ३२ होती है। (२) रेवतीका आकार मृदंगका-सा है। और इस स्तुतिमें मृदंग-वादनकी विशेष ध्वनि-निदर्शक भंजन, गंजन, खंडित, पंडित और खंडन, मंडन शब्द हैं; ये शब्द भी विशिष्ट प्रमाणबद्ध हैं। चार चरणोंके बाद दो चरणोंमें भंजन, गंजन, फिर दो चरणोंके बाद खंडित, पंडित और पुनः चार ही चरणोंके पश्चात् खंडन-मंडन शब्द हैं और इनके बाद दो ही चरण हैं। कोई भी मृदंगवादनपटु बता सकता है कि ऐसी गति किस तालमें होती है। (३) नाम-साम्य। रेवृ धातु गतिवाचक है। रेवती=गतिमती। और यह स्तुति श्रीरामजीके परमधाम-गमन-समयकी है ही। (४) इस नक्षत्रका देवता पूषा है। पूषा=सूर्य। और हरि=सूर्य। श्रीरामजी सूर्यवंशके हैं। (५) फलश्रुति है—'*कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचंड॥*' वैसे ही इस स्तुतिमें '*कलिमलमथन नाम ममताहन*', '*जातुधान बरूथ बल भंजन*' है। कपट, दंभ, पाखण्ड और काम-क्रोधादि ही तो यातुधान हैं। '*प्रेम सहित मुनि नारद बरनि राम गुन ग्राम।*' के '*रामगुनग्राम*' वचनोंमें पूर्णतया साम्य है।

☞इस प्रकार अभिजितसहित २८ नक्षत्रोंका साम्य २८ नक्षत्रोंसे यथामति बताया गया। इस भावके आद्यसंशोधक श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी ही हैं। उनके मानसप्रसंगमें जो भाव वर्णित हैं उनसे पूर्ण समाधान न हुआ तब ज्योतिषग्रन्थावलोकन तथा गुरुकृपासे उनके भावोंमें बहुत सुधार किया गया।

श्रीत्रिपाठीजीके नाम-साम्य तथा देवता-साम्य नहीं बताया है। वह नवीन है। उन्होंने नक्षत्र-मण्डलके समान मण्डलाकारता पूर्ण करनेके लिये अश्विनी और रेवतीका सम्बन्ध नहीं बताया। वह उनकी रेवती स्तुतिमें है ही नहीं।

दोहा ५१ पर मानसका मुख्य उपसंहार किया गया है। अतः २८ स्तुतियोंमेंसे कोई भी इसके अन्तरकी लेना उचित नहीं। शिवजी स्वयं ही आगे कहते हैं—'*उमा कहेउँ सब कथा सुहाई।*' अर्थात् मानसकथा यहाँ समाप्त हो गयी। गौड़जीका भी यह मत है।

२—स्तुतिरूप नक्षत्रमण्डल गोस्वामीजीने किस प्रकार पूर्ण किया, यह देखिये। अश्विनीस्तुति विधिकृत '*जय जय सुरनायक..........।*' (१। १८६) छंद है। और रेवती-स्तुतिके उपसंहारमें '*गए जहाँ बिधि धाम*'

कहा है। इस प्रकार रेवती-स्तुतिका सम्बन्ध अश्विनीस्तुतिसे जोड़ दिया और यह स्तुतिरूप नक्षत्र चक्र जिसमेंसे श्रीरामनामरूपी सोम भ्रमण करता है उसकी मण्डलाकारता बतला दी।

मानसकथाका उपसंहार

गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥ १॥
रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥ २॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥ ३॥
जलसीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—पारना=सकना। यथा—'*बाली रिपुबल सहै न पारा।*' गुनानी=गुण+अनी। नामानी=नाम+अनी (=सेना, समूह)।

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो, मैंने यह सब उज्ज्वल कथा जैसी कुछ कि मेरी बुद्धि है कही॥ १॥ रामचरित शतकोटि और अपार है। श्रुति और शारदा नहीं वर्णन कर सकते॥ २॥ श्रीराम अनन्त हैं और उनके गुण-समूह अनन्त हैं, जन्म और कर्म अनन्त हैं तथा उनके नामोंका समूह अनन्त है॥ ३॥ जलके कण और पृथ्वीका रज चाहे गिना जा सके पर श्रीरघुनाथजीके चरित वर्णन करनेसे नहीं चुक सकते*॥ ४॥

नोट—☞'*बिसद*' '*न बरनइ पारा*' अनन्तके भाव बहुत बार आ चुके हैं। (क) '***मोरि मति जथा***' इति। रामचरितका अन्त नहीं, इसीसे कहा कि मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कहा है। (ख) ☞'***हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु॥***' (१। १२०) उपक्रम है और '***गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥***.........' उपसंहार अर्थात् समाप्ति है। (ग) '***सब कही***' इति। भाव यह कि शिवजी कहते हैं कि मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार सब कथा सुना डाली अर्थात् कुछ बाकी नहीं छोड़ा, प्रभुका निज-धाम वर्णन भी कहा। न कहा होता तो गिरिजा प्रश्न करतीं कि जिस कथाके विषयमें मुझे आश्चर्य था उसे तो आपने कहा ही नहीं। अतः सिद्ध है कि सरकारके निजधाम जानेकी कथा भी शिवजीने कही। (वि० त्रि०)।

'***सतकोटि अपारा***' इति। वाल्मीकिजीने शतकोटि रामायणें बनायीं, इसके अतिरिक्त और भी अगणित रामायणें अनेक मुनियोंकी बनायी हुई हैं। रामचरितका अन्त नहीं है; इसीसे उसे अपार कहा है। पुनः, श्रुति-शारदा भी वर्णन करके पार नहीं पा सकते; अतः अपार कहा। वा, इस कथनसे अपारता दिखायी।

वै०—सनकादि अनेक आचार्योंने रामायणें कहीं। उनमेंसे एक वाल्मीकिकी ही शतकोटि संख्या है, तब अनेकोंकी मिलाकर संख्या कौन कर सकता है, असंख्य हैं; अतः अपार कहा।

नोट—२ वाल्मीकिजीने जो रामायण रची उसका नाम 'शतकोटि रामायण' है। आ० रा० मनोहरकाण्डमें लिखा है कि उसमें सौ करोड़ श्लोक हैं, नौ लाख काण्ड और नब्बे लाख सर्ग हैं। यथा—'**नवलक्षाणि काण्डानि शतकोटिमिते द्विज॥ सर्गा नवतिलक्षाश्च ज्ञातव्या मुनिकीर्त्तिताः। कोटीनां च शतं श्लोकमानं ज्ञेयं विचक्षणैः॥**' सर्ग १७। (१४-१५) आनन्दरामायणादि अनेक रामायणोंमें उसीकी बहुत संक्षिप्त कथाएँ हैं और जो वाल्मीकिरामायण आजकल प्रचलित है वह भी उसीमेंसे ली हुई संक्षिप्त कथा है।

इसके अतिरिक्त अनेक रामायणें और हैं जो शिवजी, ब्रह्माजी, सुग्रीवादिपार्षदों, १८ पद्म सेनापतियों और अगस्त्यादि अनेक ऋषियोंने कही हैं। इसीसे 'अपारा' विशेषण दिया है। अ० रा० में कुछ रामायणोंके

---

* १ वीर—रामजी एवं उनके नामादि अनन्त हैं, इसका विशेष उदाहरणसे समर्थन 'अर्थान्तरन्यास' है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष 'सार' अलंकार है। जलसीकर और महिरजका गिना जाना उत्कर्षका कारण नहीं है, क्योंकि ये गिने भी जायँ तो भी रघुनाथजीके गुणोंका अन्त नहीं मिल सकता। 'प्रौढ़ोक्ति' है। 'अनन्त' शब्दमें 'यमक' है।

२ यथा—'सम्पृष्टं त्वया कान्ते रामचन्द्रकथानकम्। कथयामि सविस्तारं महामङ्गलकारकम्॥ आ० रा० मनोहर। १। ६।'

नाम आये हैं। यथा—'**वाल्मीकिना कृतं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्॥ ६१॥ तत्सर्वेषामादिभूतं महामङ्गलकारकम्। रामायणादेव नाना सन्ति रामायणानि हि॥ ६२॥ शेषभूतं चतुर्विंशसहस्रं प्रथमं स्मृतम्। तथा च योगिवासिष्ठमध्यात्माख्यं तथा स्मृतम्॥ ६३॥ वायुपुत्रकृतं चापि नारदोक्तं तथा पुनः। लघुरामायणं चैव बृहद्रामायणं तथा॥ ६४॥ अगस्त्युक्तं महाश्रेष्ठं साररामायणं तथा। देहरामायणं चापि वृत्तरामायणं पुनः॥ ६५॥ ब्रह्मरामायणं रम्यं भारद्वाजं तथैव च। शिवरामायणं क्रौचं भरतस्य च जैमिनः॥ ६६॥ आत्मधर्मं श्वेतकेतु ऋषेश्चैव जटायुषः। रवेः पुलस्तेर्देव्याश्च गुह्यकं मङ्गलं तथा। गाधिजं च सुतीक्ष्णं च सुग्रीवं च विभीषणम्। तथाऽऽनन् रामायणमेतन्मङ्गलकारकम्। एवं सहस्रशः सन्ति श्रीरामचरितानि हि। कः समर्थोऽस्ति तेषां हि संख्यां वक्तुं सविस्तरात्॥**'

स्मरण रहे कि जटायुके नामसे सम्पातीने रामेश्वरके पास कुण्ड बनाया था और उसके नामसे रामायण भी बनाया।

इसके अतिरिक्त श्रीमान् गौड़जीकी लिखी हुई अप्रकाशित *'धर्मसार-संग्रह'* में कुछ रामायणोंके नाम और उनका कुछ परिचय मिला है। वह उनकी आज्ञासे दास यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत कर रहा है। इससे मनु-शतरूपा, भानुप्रतापादि प्रसंगोंका पता चलता है—

'वनपर्वमें रामोपाख्यानका वर्णन करनेके पहिले कहा गया है कि 'राजन्! पुराने इतिहासमें जो कुछ घटना हुई है, वह सुनो।'—(अध्याय २७३ श्लोक ६)। इस स्थलपर पुरातन शब्दसे विदित होता है कि महाभारतकालमें रामायणी कथा पुरातनी कथा हो चुकी थी। इसी तरह द्रोणपर्वमें लिखा है—'**अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।**' इन बातोंसे स्पष्ट है कि महाभारतकी घटनाओंसे सैकड़ों या हजारों वर्ष पहले वाल्मीकीय रामायणकी रचना हो चुकी होगी। ऐसा प्रवाद प्रचलित है कि वाल्मीकिने सौ करोड़ श्लोकोंका रामायण नामक ग्रन्थ रचा था।—'**चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।**' परंतु स्वयं वाल्मीकीय रामायणमें बालकाण्डके चौथे सर्गमें लिखा है—

'**प्राप्तराजस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषिः। चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत्।**
चतुर्विंशसहस्राणि श्लोकानामुक्तवान् ऋषिः। तथा सर्गशतान् पञ्चषट्काण्डानि तथोत्तरम्।'

इन श्लोकोंसे प्रकट होता है कि वाल्मीकिजीने २४००० श्लोक रचे जो ५०० सर्गोंमें बटे थे। जो पाठ आजकल प्रचलित हैं वे तीन प्रकारके हैं।—उदीच्य, दाक्षिणात्य और गौडीय। उन तीनोंमें परस्पर पाठभेद तो है ही पर किसीमें न तो ठीक २४००० श्लोक हैं और न ५०० सर्ग। यह भी निश्चय है कि उपर्युक्त दोनों श्लोक वाल्मीकिके रचे नहीं हैं, क्योंकि वे अपनेको स्वयं भगवान् ऋषि न लिखते।

इसलिये यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वाल्मीकिने कितनी रचना की और प्रचलित रामायणमें कितना अंश उनका ही रचा हुआ है। आरम्भके कई सर्गोंका रचयिता विदित न होनेकी दशामें हम यह मान लेंगे कि लव-कुशने अथवा उनके और किसी शिष्यने रचा होगा।

पद्मपुराण पातालखण्डमें अयोध्यामाहात्म्यके वर्णनमें रामायणके टीकाकार नागेशभट्टके अनुसार यह लिखा है—'**शापोक्त्या हृदि संतप्तं प्राचेतसमकल्मषम्। प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृतः॥ न निषादः स वै रामो मृगयां चर्तुमागतः। तस्य समवर्णनेनैव सुश्लेक्यस्त्वं भविष्यसि॥ इत्युक्त्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोकसनातनः। ततः संवर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः॥**'

कोटिभिः का अर्थ **शतकोटिभिः** करते हुए नागेशभट्टजी कहते हैं कि वाल्मीकिने १०० करोड़ श्लोकोंकी रचना की थी। ऐसा सुना जाता है कि वह सब-का-सब ब्रह्मलोकको चला गया। कुश-लवके उपदेश किये २४००० मात्र यहाँ रह गये।

वाल्मीकि रामायणके सिवा एक अध्यात्मरामायण भी प्रसिद्ध है जो शिवजीकी रचना कही जाती है। पंडित धनराज शास्त्रीकी सूचीमें कुछ रामायणोंके नाम दिये गये हैं। महारामायणमें साढ़े तीन लाख श्लोक हैं। संवृत रामायणमें २४०००, अगस्त्य रामायणमें १६०००, लोमश रा० में ३२०००, रामरहस्यमें २२०००, मंजुल रामायणमें १ लाख २० हजार, सौपद्म रामायणमें ६२०००, रामायण महामालामें ५६०००, सौहार्द्र

रा० में ४००००, रामायण मणिरत्नमें ३६०००, सौर्यरामायणमें ६२०००, चान्द्र रामायणमें ७५०००, मयंद रामायणमें ५२०००, स्वायंभुव रा० में १८०००, सुब्रह्म रा० ३२०००, सुवर्चस रा० में १५०००, देवरामायणमें १ लाख, श्रवणमें सवालाख, दुरंतमें ६१००० और चम्पूमें १५००० श्लोक हैं।

१ सवृत।—'इसमें १४००० श्लोक हैं। इसके कर्त्ता नारद हैं। इसका समय रैवतमन्वन्तरका पाँचवाँ सतयुग है। इस रामायणका समस्त स्वरूप पूर्ववत् है, परंतु विलक्षणता यह है कि स्वायम्भुव और शतरूपा, जिनसे नरसृष्टि कही जाती है, वे तपस्या करके भगवान्‌के सदृश पुत्रकी याचना की है। उनके वरदानके अनुसार वे रैवतकल्पमें दशरथ-कौशल्या होकर जो रामजन्मका कारण बताया जाता है, उस रामचरित्रका वर्णन विस्ताररूपसे इस रामायणमें सप्त सोपानमें लिखा है।'

२ अगस्त्यरामायण।—'इसमें १६००० श्लोक हैं। इसको अगस्त्य मुनिने स्वारोचिष मन्वन्तरके दूसरे सतयुगमें बनाया है। इसकी छाया शिवजीके अगस्त्याश्रमपर जानेवाली कथामें गोसाईं तुलसीदासजीकी रामायणमें मिलती है। इसमें भानुप्रताप-अरिमर्दन-कल्पका रामजन्महेतु जो दिखाया गया है उसका पूर्ण चरित्र सप्त सोपानमें विशेषरूपसे लिखा है। इसमें राजा कुन्तल और सिन्धुमतीका दशरथ और कौशल्या होना बताया गया है। यहाँ जानकी-जन्म वार्षणेय यज्ञभूमि-शोधनमें दिखलाया गया है और भी समुद्र-उत्पत्ति मुद्रिकाप्रदान-कारण, रामेश्वर-स्थापन-कारण, ऋष्यमूक पर्वतकी स्थिति, मय-दुंदुभीकी उत्पत्ति, कालविग्रह-कारण, विशेषरूपसे दिखाया गया है।'

३ लोमश रामायण।—'इसमें ३२००० श्लोक हैं। इसको लोमश ऋषिने स्वायम्भुवमन्वन्तरके एक हजार बासठवें त्रेतामें बनाया। इसमें जलन्धरके कारण रामावतार जो हुआ है, उस रामचरितको उसी सप्त सोपानमें लिखा है। यहाँ राजा मुकुन्द वीरमतीका दशरथ-कौशल्या होना बताया है। यहाँ जानकीजन्म मिथिलेशके शिकारमें वनमें सम्प्राप्त योगमायादर्शन है। इसमें सतीव्यामोह और उनका त्याग, शम्भुपण, कामप्रेरणा, कामयात्रा, कामदहन, रतिवरदान और पार्वतीविवाह विशेषरूपमें है।'

४ मंजुल रामायण। 'इसमें १ लाख २० हजार श्लोक हैं। इसको सुतीक्ष्ण ऋषिने स्वारोचिष मन्वन्तर के १४ वें त्रेतामें बनाया। यह भी सप्तसोपानबद्ध भानुप्रताप-अरिमर्दनकी कथा विशेष, उनकी यज्ञव्यवस्था, विभ्रमकारण, शापहेतु विशेष हैं। महारानी और पवनसुतका अशोकवाटिका-संवाद, मुद्रिकाकी कथा-कारण, सीताका चकित होना आदि अद्भुत है। एवं सन्देश-प्राप्ति-समय महाराजका हनुमान्‌के प्रति भक्ति-व्याख्या विशेष है तथा शबरीके प्रति नवधा भक्ति-वर्णन, भक्तिलक्षण, भक्तलक्षण, रागानुगावैधी-भक्ति-निरूपण विशेष है।'

५ सौपद्यरामायण।—'इसमें ६२००० श्लोक हैं। इसको अत्रि ऋषिने रैवत मन्वन्तरके सोलहवें त्रेतामें बनाया। यह भी सप्तसोपानबद्ध है। इनमें जनकवाटिका-निरूपण, माली-राम-संवाद, अद्भुत नीति-प्रीति, भक्तिरससानी वाणी-विलास लिखा है। तथा नगरदर्शन, व्यापारियोंके प्रेमकथन, मैथिलिनारियोंके नेहकथन, बालकप्रेम, स्नेह-विभावना, विवाह-तरंग, हास-विलास विशेषरूपसे वर्णित हैं। तथा जनकनन्दिनी-विदावर्णन, विवाह-कोशल, नारियोंके स्नेहकथन, हास-विलास एवं वनयात्रा-कालमें ग्रामवधूटी-नेहकथन, ग्रामवधूटी-विलास-वर्णन तथा हरणकालमें जनकनन्दिनी-विलाप, रघुनन्दन-विलाप विशेषरूपमें ऐक्य, शबरी-चरित्र, नारदमिलन, सुग्रीव-मैत्री, संकारण प्रयोजन सबीज दर्शाया गया है। सीताका अग्नि अर्थात् पर पुरुषके यहाँ सुपुर्दगी, अग्निका भगवत्-विश्वास, अग्निको क्यों सौंपा? यह बहुत स्पष्टरूपमें दर्शाया गया है।'

६—रामायणमहामाला।—'इसमें ५६००० श्लोक हैं। इसका समय तामस मन्वन्तरका दशम त्रेता है। इसमें शिव-पार्वतीका संवाद है। यह भी सप्तसोपानबद्ध है और शंकरजीका नीलगिरिपर मरालवेषसे निवास, मराल होनेका कारण, काकसे कथा-श्रवण, गरुड़-उपदेश, गरुड़-व्यामोह, भक्तके ज्ञान होनेपर भी मोहबद्ध होनेका कारण और शंकरसे मुलाकात होनेपर भी उनके न समझानेका हेतु और तत्त्व, भुशुण्डिके प्रति भेजना, वहाँ मोहनिवृत्तिका कारण आदि विशेष-रूपसे दर्शाया गया है। इसमें विभीषणशरणागति, सुग्रीव-शरणागति, कौशल्या-विश्वरूप-दर्शन, सतीविश्वरूपदर्शनका विशेष प्रकार और हेतु और महाराजके रामेश्वर-आलम्बका विशेष कारण और प्रयोजन दर्शाया गया है।

७—सौहार्द्ररामायण—'इसमें ४०००० श्लोक हैं। इसको शरभङ्ग ऋषिने वैवस्वतमन्वन्तरके नवम त्रेतामें बनाया। इसमें दण्डकारण्यकी उत्पत्ति, दण्डकारण्यक-शाप, दण्डकारण्यमें महाराजके जानेका हेतु, नारदव्यामोहका कारण, कामविजयकी अहमिति, शीलनिधिका चरित्र, उनका स्वयंवर, कन्यासौन्दर्य, नारदविभ्रम, सौन्दर्य-याचना, महाराजके न देनेका हेतु, रुद्रगणका परिहास, छलका हेतु, नारदक्रोधवर्णन, शापवर्णन, शापग्रहण-कारण, अनुग्रह-उद्धार, विशेष वर्णनपूर्वक सोपानबद्ध लिखा गया है। शूर्पणखा-आगमन, कामवशित्वछलन-विधि, नासिका-कर्ण-विपात, खरदूषण-युद्ध विशेष दिखाया गया है। रावण-मारीचसंवाद, कपट कुरङ्गव्यवहार, हेमकुरङ्गमें जानकी महारानीका आलोम, महाराजको उसमें प्रवृत्तिका कारण, लक्ष्मणका आह्वान करना, लक्ष्मण और महारानीका मर्मवचन, धनुषरेखाकरण, उसकी शक्ति-वर्णन कि जिसके भीतर त्रैलोक्यके वीर नहीं जा सकते थे। यहाँ धनुषविद्याका महत्त्व पूर्णरूपसे दिखाया गया है। रावणका ब्राह्मणरूपान्तर, भिक्षा माँगनेका कारण महारानीका उसके छलमें आ जानेका हेतु, रेखाके बाहर निकलनेका हेतु, रावणद्वारा हरण और विलाप, जटायु-युद्ध-निरूपण, उसका आहत होना, उसकी गति और मोक्ष, महाराजका आश्वासन फिर महाराजका वैकल्य, पशु-पक्षी, जंगम-स्थावरका संभाषण, विरहसे अथवा आनन्दसे एक ऐसे स्वरूपमें मनुष्य स्थिर हो सकता है कि जिसमें इन सबसे भी सम्भाषण कर सकता है और सुन सकता है। वही अवस्था इसमें विशेषरूपसे वर्णित है। महाराज और लक्ष्मणजीको वानरी भाषा समझना और बोलना पड़ा है। एवं इसी प्रकार राक्षसोंकी भाषा पैश्यभाषा आदिकी विशेष शृङ्खला बनायी गयी है।'

८ रामायण मणिरत्न—'इसमें ३६००० श्लोक हैं। इसका समय तामस मन्वन्तरका १४ वाँ त्रेता है। यह वसिष्ठ-अरुन्धतीका संवाद है। सप्तसोपानबद्ध रामायणमात्र हुआ करते हैं। इसकी सहेतु व्याख्या, पंचवटीकी उत्पत्ति, पंचवटीको संज्ञा, गोदावरीतटनिवास-कारण गोदावरीकी उत्पत्ति, चित्रकूट-निवास-कारण, चित्रकूट-महत्त्व, कामदशिखर वर्णन, कामद-महत्त्व, चित्रकूट-रासस्थान, वाल्मीकिसम्मिलन, निवासस्थान, प्रश्नोत्तरसमीक्षा देवाश्रम, अत्रि-मिलन, अनुसूया-नारीधर्मशिक्षा विशेषरूपसे दिखलाया गया है। एवं अयोध्या-रासस्थान, चन्द्रोदय उर्फ चनवख-वर्णन, प्रमोद-वनविहार, श्रावण-उत्साह, वसन्तोत्सव, फाल्गुण-उत्सव (मिथिलोत्सव और अयोध्या-उत्सव) चित्रादि, (सखीन) सखियोंके साथ रङ्गस्पर्धा, सखान (सखाओं) को व्यामोह, महाराजका निवारण रङ्गपञ्चमी (चैत्र बदी पञ्चमी), शीतला अष्टमी इत्यादि विशेषरूपसे वर्णित हैं एवं सीता-राममिलन लंकामें विशेष दिखाया है। वेदस्तुति, शम्भुस्तुति, इन्द्रस्तुति, ब्रह्मास्तुति एवं गङ्गास्तुति आदि अनेकानेक स्तोत्र इस रामायणके अन्तर्गत हैं। अन्तिम राज्यसिंहासनासीन महाराजका सत्सङ्ग, उसमें गुरुगीता, देवगीता, भक्तिगीता, ज्ञानगीता, कर्मगीता, शिवगीता, वेदगीता (सात गीता) इस रामायणमें निबद्ध हैं।'

९ सौर्यरामायण—'इसमें ६२००० श्लोक हैं और यह हनुमान् और सूर्यका संवाद है। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका बीसवाँ त्रेता है। इसमें हनुमान्-जन्म, शुकचरित्र; शुकके रजक होनेका कारण और उसके द्वारा जानकी-निस्सारणदण्ड विशेष बताया है। लौटती समय इन्द्रावलपुरका उतरना, महारानी अंजनी और हनुमान्जीका संवाद, अंजनीका हनुमान्जीके प्रति मातृ-धिकार, पश्चात् प्रसन्नता एवं सीतामिलन और उनपर भी बौछार, प्रसन्नता, महाराजका सम्मिलन, उनपर भी छींट, पुन: लक्ष्मणमिलन, उनकी यथार्थ सराहना, ऋक्षराज जाम्बवन्त-बल-पराक्रमवर्णन, उनका आतिथ्य-सत्कार, प्रयाग आगमनादि विशेष वर्णन है।'

१० चान्द्र रामायण।—'इसमें ७५००० श्लोक हैं। यह हनुमत्-चन्द्रमा-संवाद है। इसका समय श्वेत मन्वन्तरका ३२ वाँ त्रेता है। इसमें नारदतप, इन्द्र-कामप्रेरणा, नारदमोह, भरत-चित्रकूटयात्रा, केवट-संवादका विशेषरूपसे वर्णन है। केवटका पूर्वजन्म-संस्कार, भरद्वाज-समागम विशेष दिखाया गया है। इसमें जनकनन्दिनीके शोधमें विवरप्रवेश और एक स्त्रीका सम्मिलन, सम्पातिचरित्र विशेष वर्णन है। चन्द्रमा ऋषिका आगमन-कारण, सम्पातीपर दया, वानरी सेना-मिलन-प्रकार, पक्ष-अङ्कुरण, जटायुपर विलाप, गृध्रकी दूरदर्शिता व दूरदृष्टि विचित्ररूपसे वर्णित हैं।'

११ मयन्दरामायण—'इसमें ५२००० श्लोक हैं। यह मयन्द-कौरव-संवाद है। इसका समय रैवत

मन्वन्तरका २१ वाँ त्रेता है। इसमें जनक-नगर-वाटिकाप्रसङ्ग, गुरुसेवा, मालीसंवाद, अहिल्या-उद्धार, गङ्गावर्णन, गङ्गाकी आत्मीयता, विशेष दिखाया है। रामेश्वर-माहात्म्य, रावणमन्त्र, विभीषणमन्त्र, हनुमान्‌जीका वाटिकाप्रवेश और बन्धन, लंकादहन विशेषरूपसे लिखा है।'

१२ स्वायंभुवरामायण—'इसमें १८००० श्लोक हैं। यह ब्रह्मा-नारद-संवाद है। इसका समय स्वायंभुव मन्वन्तरका ३२ वाँ त्रेता है। इसमें गिरिजापूजन, विवाह अङ्ग, वन-अटन, सुमन्तमिलाप, गङ्गापूजन, सीताहरण विशेष है। अद्भुत यह है कि रावणको मुनिदण्ड, मन्दोदरीगर्भसे सीतोत्पत्ति, कौशल्याहरण, दीर्घबाहु, दिलीप, रघु, अज, दशरथकी परीक्षा विशेष कही गयी है।'

१३ सुब्रह्मरामायण—'इसमें ३२००० श्लोक हैं। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका १३ वाँ त्रेता है। इसमें प्रयाग-माहात्म्य, भरद्वाजदर्शन, भरद्वाजकी भरत-पहुनाई, देवतामन्त्र, तापसमिलन, चित्रकूटनिवास अनसूयारहस्य विशेष कहा है।'

१४ सुवर्चसरामायण—'इसमें १५००० श्लोक हैं। यह सुग्रीव-तारा-संवाद है। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका १८ वाँ त्रेता है। इसमें किष्किन्धाके प्रति लक्ष्मणकोप, सुग्रीव-मिलन, सीता-दर्शनकी ताराकी उत्कण्ठा और लौटानीमें दर्शन, वालि-तारासंवाद, वालि-राम-संवाद, रावणदरबार, सभाप्रसंग, मन्दोदरीका समझाना, सुलोचनाविलाप, समुद्रगाम्भीर्य, लक्ष्मण-शक्ति, संजीवनी-आनन्द-पर्वतवर्णन, सपर्वत हनुमान्‌जीका अयोध्या आगमन, भरत-हनुमान-संवाद, धोबी-धोबिनका संवाद, रावण-चित्रोल्लेखनपर शान्ताकी चुगली, शान्ताप्रति सीताका शाप, उनकी पक्षीयोनिकी प्राप्ति, सीतानिस्सारण, लव-कुशकी उत्पत्ति, अश्व बाँधना, लव-कुश-युद्ध, अयोध्यावासियोंका पराजय, महारावण-युद्ध और उसका वध, लवणासुर-युद्ध और उसका वध, राज्यविभाग, वैकुण्ठगमन विशेषरूपसे लिखा गया है।'

१५ देवरामायण—'इसमें १ लाख श्लोक हैं। यह इन्द्र-जयन्त-संवाद है, इसका समय तामस मन्वन्तरका छठा त्रेता है। इसमें जयन्तका कायपरिवर्तन, रामपरीक्षा, कोप, अशरण्यता, नारद-मिलन-उपदेश, रामशरणागति एवं रामविजय, भरतविजय, शत्रुघ्नविजय, हनुमान्‌विजय, बन्दरविदाई, अङ्गदव्यामोह, विभीषणपुत्रकी अयोध्या-कोतवाली, जानकीविनय, जानकीनाटक, नाम, रूप, लीला, धाम-चतुर्व्यूह-भक्ति, धाम-महिमा, सरयूमहिमा, हनुमत्-राज्याभिषेक, हनुमत्कार्य्य, उपासनाविधि, सत्संगमहिमा, माधुर्य्य, तीर्थोंका परस्पर सत्संग, धाम और पुरी-निरूपण, नगरनिरूपण, ग्रामनिरूपण, भाषापरिवर्तनविधि, शब्दपरिशिष्ट-वर्णन विशेषरूपसे है।'

१६ श्रवणरामायण—'इसमें १ लाख २५००० श्लोक हैं। इसमें-इन्द्र-जनकका संवाद है। इसका समय स्वायम्भुव-मन्वन्तरका ४० वाँ सतयुग है। इसमें दशरथका अहेरवर्णन, श्रवणकुमारकी मातृ-पितृभक्ति-वर्णन, श्रवण-विवाद, पातिव्रत-निरूपण, श्रवणवध, उनके पिताका दशरथके प्रति शाप, मंथराकी उत्पत्ति, मृगीशाप, भरतकी मातामहीका सख्य, दशरथ-प्राणघात-कारण, सुमन्तस्मरण, अष्ट सामन्त, अष्ट सूर, सोरह सामन्त, राज्याङ्ग विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। चित्रकूटमें भरत-रामसंवाद, वसिष्ठमध्यस्थका भाषण, जनक-आगमन, मिथिलासमाज, अवधसमाज, एकत्रस्थिति सभा, पादुका-याचना, पादुका-राज्यप्रसङ्ग, नन्दिग्रामनिवास, राजभारानुवर्तन, पादुकाद्वारा विशेष कहा है।'

१७ दुरन्तरामायण—'इसमें ६१००० श्लोक हैं। इसमें वसिष्ठ जनकका संवाद है। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका २५ वाँ त्रेता है। इसमें भरतमहिमा भरतशपथ, भरतविलाप, कैकेयीक्षोभ, भरतजीकी श्रीरामजीके लौटानेपर तत्परता, लक्ष्मणरोष, निषाद-भरत-संवाद, निषादरोष, विभ्रम, चूड़ामणिकी कथा, चूड़ामणि-चिह्न, मुद्रिका-चूड़ामणिका परिवर्तन हेतु, सीता-संदेशप्राप्ति, सीता-दौर्बल्य, प्रवर्षण-शिलानिवास, किष्किन्धावर्णन, संसारभरके वानरोंपर वालि-सुग्रीवका अधिकार, देवताओंके वानर होनेका कारण, प्रयोजन, दुन्दुभि-अस्थिताल-वर्णन, श्रीरामचन्द्रजीका वालिवधन-प्रण, मधुवनप्रशंसा, मधुवन-रक्षाविधि, समुद्रतीर-अंगदप्रलाप-कलाप, वानरोंका बलभाषण, हनुमत्-मौन-कारण, स्मरणसे अनन्त बलप्राप्ति, रामप्रसादकी अधिकारिता, लंकादहन, विभीषण-गृह बचनेका कारण, हनुमान्‌जीके न जलनेका हेतु, विभीषण-राज्याभिषेक-कारण, समुद्रके प्रति

विनय, समुद्र-भर्त्सना, समुद्रको डर, कम्पन, समुद्र-शरणागति, कटक उतारनेका प्रकार निर्वाचन समुद्रद्वारा, नल-नील-सामर्थ्य, उपल-संतरण-प्रकार आदि कथा विशेष दिखायी है।'

१८ रामायणचम्पू—'इसमें १५००० श्लोक हैं और शिव-नारद-संवाद है। इसका समय श्राद्धदेवमन्वन्तरका प्रथम त्रेता है। इसमें सप्तसोपान संक्षेपतः रहता है। रामायण-चित्रवर्णन चम्पूका कार्य है। इसमें शीलनिधि राजाके यहाँ दोनों रुद्रगणोंका आगमन-कारण, नारदका परिहास, नारदक्रोध, रुद्रगणके प्रति शाप, वीरभद्रकी उत्पत्ति, सतीदेह-त्याग, दक्षयज्ञ-विनाश, शिव-अखण्ड-समाधि, त्रिपुर-उत्पत्ति, पार्वतीरूपसे हिमाञ्चलके यहाँ उत्पत्ति और तप, काम-प्रेरणा, काम-कलाप, शम्भु-नयनज्वाल-वर्णन, कामदहन, पार्वती-विवाह, मुण्डमाल-धारण-कारण, गणेश-उत्पत्ति, वैषम्यभाव, कैलाशस्थिति, रामभक्ति-प्रकार, रामध्यान, राम-वन्यस्वरूप, वीरस्वरूप, इन्द्ररथप्रेषण, पाताल-आगमन, अरुण-व्यवहार, अरुण-गरुड़-संवाद, काल-नेमिछल, संजीवनी-महिमा, शक्ति लगनेसे सूर्य-उदयमें मृत्युका हेतु, सुषेण वैद्यके आनयनकी कथा विशेष वर्णित है।'

और रामायणें

१९ रामरहस्यमें (रामायणमें) २२,००० श्लोक है।

२० महारामायणमें ३,५०,००० (साढ़े तीन लाख) श्लोक है।

यहाँतक हम उनमेंसे कुछ रामायणोंकी चर्चा कर चुके जो स्वतन्त्ररूपसे श्रीरामकी कथाके सम्बन्धमें लिखी गयी हैं। परंतु उनकी संख्या इतनेसे ही पूरी नहीं होती। महाभारतमें भी वनपर्वमें रामायणकी पुरानी कथा गायी गयी है। १८ हों पुराणोंमेंसे रामायणकी कथा हर एकमें गायी है। ब्रह्माण्डपुराणमें जो रामायणी कथा है वही अलग करके अध्यात्मरामायणके नामसे प्रकाशित हुई है। उसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। परंतु आगेके अध्यायोंमें हम पुराणोंका विषय अलग-अलग देनेवाले हैं, इसलिये इसे यहाँ इसी जगह समाप्त करते हैं।

नोट—३ प्र० सं० में इतना लिखा गया था। बालकाण्ड भाग १ के तीसरे संस्करणमें *'शतकोटि रामचरित'* पर पुनः विचार किया गया है। विस्तृत लेख वहीं दोहा २५ बालकाण्ड *'रामचरित सतकोटि महँ लिये महेस जिय जानि'* में देखिये।

नोट—४ *'श्रुति सारदा न बरनै पारा'* इति। मिलान कीजिये—**'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्।'** (भा० २। ७। ४१) **'मानं रामचरित्रस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। विस्तरेण प्रवक्तुं च क्षमः कोऽपि न भूतले।' (आ० रा० यात्रा०** २। ७३) अर्थात् उन महापराक्रमी महापुरुषका मायाके प्रभावका अन्त तो मैं और तुम्हारे भाई सनकादि भी नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहना ही क्या है? दस सहस्र फणवाले आदिदेव शेषजी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पा सके। (भा०)। शतकोटि विस्तार रामचरितका है। पृथ्वीमें कोई भी उसके वर्णन करनेको समर्थ नहीं है।

५—*'राम अनंत अनंत गुनानी।'''''''नामानी'* इति। श्रीरामजीका अन्त नहीं तब उनके जन्म-कर्म आदि भी क्यों न अनन्त हों? यह अनन्तता आगे दिखाते हैं (पं० रा० कु०)। बालकाण्डमें भी श्रीशिवजीने (उपक्रममें) यही बात यों कही है—*'राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥'* (१। ११४। ३-४) जन्म अनन्त कहनेका भाव कि आपके अवतार असंख्य हैं। यथा—**'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः'** (भा० १। ३। २६) (श्रीसूतजी ऋषियोंसे कहते हैं कि इन मुख्य अवतारोंके अतिरिक्त सत्त्वनिधि भगवान् हरिके असंख्यों अवतार हैं, जैसे कभी क्षीण न होनेवाले सरोवरसे सहस्रों छोटे-छोटे स्रोत निकला करते हैं।)

६—*'जल सीकर महि रज'''''* इति। सीकर=कण। यथा—**'सीकरोम्बुकणः स्मृतः'** इत्यमरः। पुनः, जलसीकर= जलके कण। अर्थात् जो जल पृथ्वीपर बरसता है उसकी कितनी बूँदें पृथ्वीपर गिरीं (यह)। रज अर्थात् पृथ्वीमें रजके कितने कण हैं (यह)। जलकण और पृथ्वी-रजका प्रमाण देकर श्रीरघुनाथजीके चरित्रकी अनन्तता सूचित की।

मिलान कीजिये—**'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।'** (भा० २। ७। ४०) अर्थात् जिस महामनस्वीने पृथ्वीके रजःकणोंको भी गिन लिया हो वह भी ऐसा कौन है जो भगवान्‌के पराक्रमोंकी गणना कर सकता है?

श्रीमद्भागवतमें इक्ष्वाकुवंशीय श्रीमान्धाताजीके पुत्र श्रीमुचकुन्दजीके प्रश्न करनेपर कि मुझे आपके जन्म-कर्म और गोत्र जाननेकी इच्छा है, भगवान् श्रीकृष्णजीने ऐसा ही कहा है। यथा—'**जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः। न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि॥ क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः। गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥ ३९॥ कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप। अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥**' (१०। ५१। ३८—४०) (अर्थात्) मेरे अगणित जन्म-कर्म और नाम हैं। वे अनन्त हैं। मैं उनकी गिनती करके नहीं बतला सकता। कदाचित् कोई पुरुष अनेकों जन्मोंमें पृथ्वीके रजकणोंकी गिनती कर भी डाले, पर मेरे गुण-कर्म-नाम और जन्मोंको कोई किसी प्रकार कदापि नहीं गिन सकता। बड़े-बड़े परमर्षिगण भी मेरे त्रिकालसिद्ध जन्म और कर्मोंका वर्णन करते भी उनका पार नहीं पाते।

७—आगे कथाकी फलश्रुति कहते हैं।

प० प० प्र०—मिलान कीजिये—'**गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य। कालेन यैर्वाविमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खेमिहिकाद्युभासः॥**' इस अर्थकी श्रुति भी है।

बिमल कथा हरिपद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥ ५॥
उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥ ६॥
कछुक राम गुन कहेउँ बखानी। अब का कहौं सो कहहु भवानी॥ ७॥

अर्थ—यह विशद कथा हरिपद देनेवाली है। इसके श्रवणसे अविनाशिनी भक्ति होती है॥ ५॥ हे उमा! मैंने वह सब सुन्दर कथा कही जो भुशुण्डिजीने गरुड़को सुनायी थी॥ ६॥ मैंने कुछ रामगुण बखानकर कहा। हे भवानी! अब क्या कहूँ, सो कहो॥ ७॥

नोट—कथासे अनपायनी भक्ति होती है। इससे जनाया कि कथा भक्तिरसका उद्दीपन-विभाव है। उससे भक्ति स्थायी भावको प्राप्त होकर रसरूपमें परिणत होगी। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ '*हरिपद दायनी*' इति। हरिपद=हरिके चरण।=हरिका धाम। कथासे दोनोंकी प्राप्ति है, यथा—'***रामचरन रति जो चह अथवा पद निरबान। भावसहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥***' (१२८) २—प्रथम कहा—'***कहिउँ सब कथा***' फिर कहते हैं कि '***कछुक राम गुन कहेउँ बखानी।***' प्रथम जो सब कथा कहना लिखा वह, वह है जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीको सुनायी थी। वह कथा पूरी सब सुनायी। और फिर जो लिखा कि कुछ रामगुण मैंने कहा उसका भाव यह है कि भुशुण्डिवाली वह सब कथा कुछ ही रामगुण है। रामगुण अनन्त है, उनमेंसे यह कुछ हैं जो मैंने कहे हैं। ('***जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई***' कहकर कथाका उपसंहार किया। '***कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़।***' (बा० १२०) उपक्रम है। दूसरा भाव यह है कि इससे पार्वतीजीको स्मरण हो आयेगा कि हमने कहा था कि वह संवाद फिर कहेंगे, यथा—'***सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब। सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥***' (१। १२०); अतः उससे भी पूछना चाहिये, पूछनेकी श्रद्धा होगी) ३—'***अब का कहउँ सो कहहु***', इस प्रश्नका भाव यह है कि प्रारम्भमें जो भुशुण्डि-गरुड़-संवाद हमने कहनेको रख छोड़ा है, यथा—'***सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब***' (बा० १२०), यदि पार्वतीजीकी श्रद्धा होगी तो वह उसे पूछेंगी तब मैं कहूँगा। आगे श्रीपार्वतीजी उसे पूछती हैं।

वै०—'***अब का कहउँ सो कहहु***' का भाव कि अभी तीन प्रश्न बाकी हैं—विज्ञानतत्त्व; भक्ति, ज्ञान और वैराग्यादिका विभाग; और '***अपर रामरहस्य।***' इनमेंसे जो पूछो सो कहें।

खर्रा—'पार्वतीजीके ८ ही प्रश्नोंका उत्तर कहकर अब प्रकरणकी इति लगाते हैं। रहे ५ प्रश्न, सो उनका भी उत्तर इन्हीं ८ के भीतर कथन हो चुका। यथा—(१) प्रजासहित परमधाम जानेका जो आश्चर्य हुआ था वह स्तुतिवर्गमें अनेक जगह नाम-गुणके कहने-सुननेसे उद्धार सुनकर जान पड़ा कि जिनके नाम और गुणका यह माहात्म्य है, उनके साथ एक पुरमें रहकर प्रजा साथ गयी तो क्या आश्चर्य है, यह समझकर संदेह ही अयुक्त

समझा। (२) दूसरा प्रश्न जो तत्त्वके विषयमें था सो दशरथ, वसिष्ठ, वाल्मीकि, जनक, अगस्त्यादिके वचनोंमें इसका उत्तर आ गया कि रामजी ही परमतत्त्व हैं, इन्हींकी विभूतिसे सब तत्त्व हैं। इनसे पृथक् दूसरा तत्त्व पूछना अयुक्त समझकर फिर प्रश्न न किया। (३)—तीसरा प्रश्न 'भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, विराग' का है सो कथामें उपदेशों, गीताओं और आचरणमें प्रकट है। (४)—चौथा प्रश्न रामरहस्यका है सो एक तो यह कथा स्वयं ही रहस्य है, दूसरे इसमें अनेक रहस्यकी कथाओंका वर्णन जहाँ-तहाँ आया है वह शिवजी बताते ही गये हैं—*'यह रहस्य काहू नहिं जाना'*, लक्ष्मण-संवाद, वसिष्ठ-संवाद इत्यादि सुनकर फिरसे पूछना अयुक्त ही है (५)—पाँचवाँ प्रश्न जो यह है कि जो मैंने न पूछा तो वह भी कहिये, इसका उत्तर अयोध्याका परत्व, प्रेमका परत्व, भरतादिका परत्व, सखाओंका परत्व इत्यादि बहुत अपूर्व बातें बिना पूछे कह आये, इससे अब फिर पूछना अयुक्त है। शिवजी उसे फिरसे पृथक् कहें तो कथामें इस सबकी अव्याप्ति सूचित होगी। अतएव कहते हैं कि *'मैं सब कही'* अर्थात् अपने जानमें मैंने सब कह दिया है।

सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु बानी॥ ८॥
धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी। सुनेउँ रामगुन भव भय हारी॥ ९॥

अर्थ—१ मङ्गलमय कल्याणकारी कथा सुनकर उमाजी हर्षित हुईं और बड़ी नम्रतासे अत्यन्त विनम्र और कोमल वाणी बोलीं॥ ८॥ हे पुरारि! मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ! धन्य हूँ! (अर्थात् मैं परम धन्य हूँ, मेरे समान दूसरा धन्य नहीं) कि मैंने भवभयके हरण करनेवाले रामगुण सुने॥ ९॥

टिप्पणी—१ ☞(क) कथाके प्रारम्भमें महादेवजी कहते हैं कि *'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल।'* (१। १२०) यह उपक्रम है। और यहाँ कथाकी समाप्तिमें *'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी'* कहा, यह उपसंहार है। तात्पर्य कि वहाँ रामायणका आरम्भ और यहाँ रामायणकी समाप्ति दिखायी। [(ख) *'बैठी सिव समीप हरषायी'* और *'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी'* आदि-अन्तमें हर्ष दिखाया। प्रश्न करनेपर शंकरजीने इनको 'धन्य' कहा था—*'धन्य धन्य गिरिराज कुमारी'* और अब ये आप अपनेको धन्य मानती हैं (रा० शं०)। (इससे सूचित किया कि भगवत्-चरित्र पूछनेवाला तथा सुननेवाला दोनों ही धन्य हैं।) (ग) *'अति बिनीत मृदु बानी।'*—इससे जनाया कि आपने बड़ा उपकार किया, इसका बदला मैं नहीं चुका सकती। विनीत होनेसे वाणी कोमल होती ही है। (पं० रा० व० श०)]

२ (क) *'धन्य धन्य मैं·········'* वी यहाँ आदर (और हर्ष) की वीप्सा है। **'पुनः पुनः कथनं वीप्सा'** अर्थात् बार-बार कहना वीप्सा कहलाता है। (ख) धन्य होनेका कारण रामगुण-श्रवण बताती हैं। [*'धन्य धन्य'* से जनाया कि मोह जाता रहा। जबतक ईश्वरका पूर्ण बोध नहीं होता, मोह किंचित् भी बना रहता है; तबतक मनुष्य कृतकृत्य नहीं होता। (रा० व० श०)] (ग) *'पुरारी'* का भाव कि शंकरजी मुक्तिके देनेवाले हैं। त्रिपुर दैत्यके तीन पुत्र थे। उन तीनोंका नाश करके उसको मुक्ति दी। इसी प्रकार जीवके तीन शरीर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन तीनोंका नाश करके जीवोंको मुक्ति देते हैं और मुझको तो आपने रामगुण सुनाकर मेरे भवभयको हरण किया। ['पुरारी' का भाव कि जैसे त्रिपुरको मारकर सबको सुख दिया वैसे ही मेरा मोह जो त्रैलोक्यनाथ-विषयक था, उसे आपने कथासे नाशकर मुझे सुख दिया।] ☞अपनेको धन्य-धन्य कहकर आगे वक्ताकी प्रशंसा करती हैं।

दो०—तुम्हरी कृपा कृपायतन* अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह॥
नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहीं अघात मति धीर॥ ५२॥

* कृपाल मइ—(का०)।

अर्थ—हे कृपायतन! आपकी कृपासे अब मैं कृतकृत्य (कृतार्थ) हुई, अब मुझको मोह नहीं है। हे प्रभो! मैंने सच्चिदानन्दघन प्रभु श्रीरामजीका प्रताप जाना। हे नाथ! हे मतिधीर! आपका मुखचन्द्र रघुवीरकथामृत टपकाता है। उसे मेरा मन कर्णछिद्ररूपी दोनाओंद्वारा पीकर तृप्त नहीं होता॥ ५२॥

टिप्पणी—१ (क) कृतकृत्य अर्थात् जो करना था वह मैं कर चुकी। (ख) 'न मोह' कहनेका भाव कि प्रथम पार्वतीजीने कहा था कि *'तब कर अस बिमोह अब नाहीं'* अर्थात् पूर्व जन्मका-सा विशेष मोह अब नहीं है, कुछ है। इसीसे कथा सुन चुकनेपर अब कहती हैं कि अब मोह नहीं है। (ग) [*'जाना राम प्रताप।'* स्वरूप तो पहले ही जाना था, यथा—*'रामसरूप जानि मोहिं परेऊ'*, अब कथा सुनकर प्रताप जाना। (रा० शं०)] *'चिदानंदसंदोह'*—यहाँ सत्‌का अध्याहार ऊपरसे करना होगा। सन्दोह=पूर्ण। दुह धातुका अर्थ 'पूर्ण' है।

२ (क) *'मतिधीर'* का भाव कि रामजीकी कथा कहनेमें आपकी मति धीर है। (ख) सुधा पीकर न अघाना यह दोष आता है; क्योंकि वह अघानेके ही लिये पिया जाता है। इसका समाधान आगे करते हैं।

पं०—'मतिधीर' का भाव कि कथा समाप्तिमें शीघ्रता न कीजिये (वा, आपने नहीं की) अभी और सुननेका जी चाहता है।

करु०, रा० प्र०—'मतिधीर' अपने लिये भी कह सकती हैं अर्थात् मेरी बुद्धि श्रवणके लिये अतिधीर है, इसीसे अघाती नहीं। [रा० प्र०-वा, मतिधीर राम। यहाँ परम्परितरूपक है] ☞मिलान कीजिये **'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥'** (भा० १।१।३) अर्थात् अहो भावुक रसिकगण! वेदरूप कल्पवृक्षका यह अमृतरससे परिपूर्ण भागवतरूप फल शुकके मुखसे पृथ्वीपर गिरा है, इसके भगवत्कथा-रूप अमृतरसका आपलोग मरणपर्यन्त बार-बार पान करते रहें।

वि० त्रि०—*'नाथ तवानन.......धीर'* इति। सभी सामग्री अलौकिक है। शिवजीका मुख अलौकिक चन्द्र है। रघुवीरकी कथा अलौकिक सुधा है। श्रवणपुटसे पान करना अलौकिक विधि है, अतः अलौकिक फल भी हो रहा है। मन उसका आस्वादन करता चला जा रहा है और अघाता नहीं। पीनेसे अघाना तभी कहा जाता है, जब पीनेसे अरुचि हो जाय। जब कृतकृत्य हो गयीं। मोह जाता रहा, तब सुननेकी आवश्यकता नहीं रह गयी, फिर भी यह कथा ऐसी स्वादु है कि मन चाहता है कि इसे सुनते ही रहें।

प० प० प्र०—कथाके उपक्रममें शिवजीने कहा है—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबि कर बचन मम।'* तब यहाँ *'ससि'* क्यों कहा? उत्तर-मोहनिरास करनेमें रविकरोंने अपना काम तो किया ही—*'अब कृतकृत्य न मोह।'* पर मोहका नाश होनेके पश्चात् भी जो श्रवण किया इससे रामपद-प्रेम-सुधा पान किया। रवि-किरणोंसे सुधाकी प्राप्ति और शीतलताकी उपलब्धि नहीं होती है। शीतलता, शान्ति तथा सुखकी प्राप्ति सुधारसमयी शरच्चन्द्रिकासे ही होती है। वह है रामचरित्रश्रवण *'रामचरित राकेशकर'* है ही। भाव कि ज्ञानसे मोहका नाश होनेपर भी यदि सगुणचरित सुधाका पान न किया जाय तो हृदयको शीतलता न मिलेगी।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ १॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥ २॥
भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा॥ ३॥
बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ४॥

अर्थ—जो रामचरित सुनकर अघा जाते हैं उन्होंने उसका विशेष रस नहीं जाना है॥ १॥ जो महामुनि जीवन्मुक्त हैं वे भी बिना अन्तर पड़े सदा हरियश सुनते हैं (अर्थात् उससे कभी पूर्ण नहीं होते, अघाते नहीं, नहीं तो सदा क्यों सुनते हैं)॥ २॥ जो भवसागरका पार पाना चाहता है उसके लिये रामकथा दृढ़ नाव है (अर्थात् ऐसी मजबूत है कि काम-क्रोधादि लहरोंसे उसके डूबनेका भय नहीं है)॥ ३॥

और फिर विषयी लोगोंके लिये हरियश कानोंको सुख देनेवाला और मनको आनन्द देनेवाला है। अर्थात् श्रवणके आनन्दके लिये ये सुनते हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) '*जे सुनत अघाहीं*·······' से जनाया कि मुझे उसका विशेष रसास्वाद मिला है, इसीसे मेरे कान सुननेसे तृप्त नहीं होते। यह (न अघाना) उत्तम श्रोताभक्तोंका लक्षण है, यथा—'*जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सरित सर नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।*' '*हरिगुन सुनहिं निरन्तर*' अर्थात् निरन्तर सुनते हैं तब भी श्रद्धा सुननेकी बनी ही रहती है, उससे जी भर नहीं जाता कि बहुत तो सुना है, वही तो है अब क्यों सुनें? (प्र० सं०)

इसी तरह श्रीशौनकजीने श्रीसूतजीसे कहा है कि जिनके उदार चरित्र परम कीर्त्तनीय हैं, उन श्रीहरिकी वे पवित्र कथाएँ आप हमसे कहिये। भला ऐसा कौन रसिक होगा जो श्रीभगवल्लीलामृतका पान करते तृप्त हो जायगा। यथा—'**ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः। रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्॥**' (भा० ३। २०। ६) (ख) '*रस बिसेष।*' भाव कि कथामें प्रभुके स्वरूपकी माधुरी, उनकी प्रणतपालता, दया, करुणा और उदारतादि गुण जैसे-जैसे कानमें पड़ते हैं तैसे-तैसे प्रेमानन्द बढ़ता जाता है। (वै०) '*सुनहिं निरंतर तेऊ*' से जनाया कि रामकथाश्रवण, ज्ञान, वैराग्य, समाधि और ध्यानादिसे अधिक राम-स्नेह बढ़ानेवाला है। यहाँतक '*नहिं अघात*' का प्रसंग कहा, आगे लोकशिक्षात्मक सामान्य बात कहते हैं कि कथा सबको सुननी चाहिये। यह सब कथा कल्याण करनेवाली है। नवधामें 'श्रवण' प्रथमभक्ति है, इससे फिर अन्य सब अङ्ग पूरे हो जायँगे। अतः उसे दृढ़ नाव कहा है (वै०)।

रा० प्र० के मतानुसार '*रस बिसेष*' =सारतत्त्व। २—'*भवसागर चह पार जो पावा।*' इति। ये मुमुक्षु हैं। इनका चित्त विषय-भोगोंकी इच्छासे व्याकुल होता है, ऐसोंके लिये श्रीरामकथा भवसागर पार उतारनेके लिये दृढ़ नावके समान है। देवर्षि नारदजीने भी यही बात व्यासजीसे कही है। यथा—'**एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः। भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥**' (भा० १। ६। ३५)

यहाँ अर्धाली २, ३ और ४ में क्रमसे मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध तीनों प्रकारके जीवोंके विषयमें श्रीरामचरितका सुखदायी होना कहा।

पं० रा० व० श०—जीवन्मुक्त वह हैं जिन्हें अब मुक्तिका उपाय करना नहीं बाकी है, वे मुक्तरूप हैं, वे केवल प्रारब्धभोगके लिये शरीरधारी हैं। मुमुक्षु वह है जो संसारको जान ले और मोक्षके उपायमें है, संसारपार होना चाहता है। मुमुक्षु संसारमें अभी लिप्त हैं और जीवन्मुक्त जीते-जी संसारमें रहते हुए उससे '**पद्मपत्रमिवाम्भसा**' अलिप्त हैं।

"**देहोऽपि दैववशगः खलु कर्मयावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।**
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्॥"

प्रारब्धवश देह भी तबतक स्वारम्भक कर्मकी प्रतीक्षा करते हुए रहता है अर्थात् छूटता नहीं है, परंच समाधियोगमें आरूढ़ पुरुष प्रपञ्चसहित उसे नहीं देखता; क्योंकि वह अपने रूपको ज्ञानद्वारा पा चुका है। [जीवन्मुक्तके लक्षण पूर्व दोहा ४२ में भी लिखे गये हैं।]

नोट—३ '*जीवनमुक्त*·······*अभिरामा*' से मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्र-मनोऽभिरामात्। क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्॥**, (भा० १०। १। ४) अर्थात् जीवन्मुक्त महापुरुष जिनके हृदयमें किसी प्रकारकी कामना, तृष्णा नहीं है, वे भी उनके गुणोंको गाते रहते हैं। भवरोगसे छुटकारा पानेके इच्छुकों, मुमुक्षुओंके लिये उनके चरित एकमात्र औषधरूप हैं। जो विषयी हैं उन्हें कानों और मनको रमानेके लिये चरित्र रमणीय विषय है। हर स्थितिमें पशुघाती अथवा आत्मघातीके अतिरिक्त कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो मुक्त, मुमुक्षु और विषयी सभीको सुख देनेवाली भगवत्कथामें रुचि न करे?—ये चौपाई तो मानो श्लोकके पूर्वार्धकी विस्तृत व्याख्या ही है। चौ० ६ उत्तरार्ध ही है। *जीवनमुक्त महामुनि जेऊ*=**निवृत्ततर्षैः।** '*सुनहिं*' की जगह 'उपगीयमान' है। भवसागर=भव। रामकथा (ता कह) **दृढ़ नावा**=औषध। भाव दोनोंका

एक ही है। सागर पार करनेके लिये दृढ़ नाव कहा। भवरूपी रोगके सम्बन्धसे उसीको औषध कहा। श्रवण सुखद मन अभिरामा=**श्रोत्रमनोऽभिरामात्**। श्रवण, मन और अभिराम दोनोंमें हैं। विशेष आगेकी चौपाइयोंमें देखिये।

'सुनहिं निरंतर तेऊ', यथा—*'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान॥ ४२॥'*

नोट—*'भवसागर चह पार'……'नावा'* इति। प० पु० स्वर्गखण्ड (अ० ६१) में श्रीसूतजीने भवसागरका रूपक इस प्रकार कहा है—'दुस्तर भवसागर कलिकालरूपी जलराशि, पापरूपी ग्राहों, विषयासक्तिरूपी भँवरों और दुर्बोधरूपी फेनसे भरा हुआ है। वह महादुष्टरूपी सर्पोंके कारण अत्यन्त भयानक प्रतीत होता है। ऐसे दुस्तर भवसागरको हरिभक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए मनुष्य पार कर जाते हैं।' यथा—

विष्णौ भक्तिं विना नृणां निष्फलं जन्म उच्यते। कलिकालपयोराशिं पापग्राहसमाकुलम्॥ ७३॥
विषयामनुजावर्तं दुर्बोधफेनिलं परम्। महा दुष्टजनव्यालमहाभीमभयानकम्॥ ७४॥
दुस्तरं च तरन्त्येव हरिभक्तितरिस्थिताः। तस्माद्यतेत वै लोको विष्णुभक्तिप्रसाधने॥ ७५॥

श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सुहाहीं॥ ५॥
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती॥ ६॥
हरिचरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥ ७॥

अर्थ—जगत्‌में कौन कानवाला ऐसा है कि जिसे श्रीरघुनाथजीके चरित न अच्छे लगते हों?॥ ५॥ जिन्हें रघुनाथजीकी कथा नहीं भाती। वे जीव जड़ हैं और अपनी आत्माकी हत्या करनेवाले हैं॥ ६॥ आपने रामचरितमानस कहा। हे नाथ! उसे सुनकर मैंने असीम सुख पाया॥ ७॥

नोट—१ 'श्रवणवन्त ऐसा कौन है', इस कथनका भाव यह है कि उसको कानवाला नहीं वरन् बहिरा समझना चाहिये तथा उसके कानको कान न समझकर, सर्पका बिल समझना चाहिये, यथा—*'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहिभवन समाना।'* (१। ११३। २) *'सुहाहीं'* का भाव कि चरित सुननेसे हर्ष होना चाहिये, यथा—*'सुनि हरिचरित न जो हरषाती।'* (१। ११३। ७) ☞ यह प्रकरण बा० ११३ (२—८) के शिववाक्यसे मिलान करने योग्य है। मिलानके लिये वहाँ देखिये। किसीका मत है कि यहाँ 'चरित' 'नाम, रूप, लीला, धाम' सबका उपलक्षक है। चारोंसे सुख होना ग्रन्थमें कहा गया है।

टिप्पणी—१ (क) *'ते जड़ जीव निजात्मक घाती'* इति। भाव कि उन्होंने श्रीरघुपतिकथा सुनाकर अपनी आत्माको नहीं तारा।—[पुनः भाव कि आत्महत्या करनेवाले 'असुर्या' लोक वा अन्धतामिस्र नरकमें पड़ते हैं, वही गति ये पावेंगे। नीच जड़ योनियोंमें भटकते फिरेंगे—'जड़' और 'आत्मघाती' कहकर जनाया कि रघुपति-कथा भवतरणोपाय है, उसके न 'सुहाने' से भव तर नहीं सकेगा।—*'सो कृत निंदक मंदमति आतमहन गति जाइ॥ ४४॥'* 'रामकथा' सहज उपाय है, वह बुरी लगती है अतः जड़ कहा।] (ख) मिलान कीजिये भा० १०, १ से—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्	१ *'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर……।'*
भवौषधात्	२ *'भवसागर चह पार……रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा।'*
श्रोत्रमनोऽभिरामात्	३ *'बिषइन्ह कहँ……। श्रवनसुखद अरु मनअभिरामा।'*
उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत	४ *'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जिन्हहिं न रघुपतिकथा सोहाहीं॥'*
विना पशुघ्नात्	५ *'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति……।'*

पं० रा० व० श०—'**विना पशुघ्नात्**' का भावार्थ यह है कि पशुका मारनेवाला कसाई जिसका हृदय हिंसा करते-करते कठोर हो गया है, वही चाहे न सुने और सब सुनते हैं। श्रीधरजी इसका दूसरे प्रकारसे अर्थ करते हैं—'जिसमें शोक न हो वह 'अपशुक' अर्थात् आत्माका नाश करनेवाला अपशुघ्न अर्थात् आत्मघाती है।'

टिप्पणी—२ *'सुनि मैं नाथ अमिति सुख पावा'* इति। अमित सुख पाया, इस कथनका भाव यह है कि एक तो हरिचरितमानस अद्भुत है, क्योंकि आपके हृदयसे निकला है (मानस=हृदय)। दूसरे, इसे आपने ही अपने श्रीमुखसे कह सुनाया है। इसीसे मुझको अमित सुख मिला।—(इस कथासे मोहका हरण

हुआ अतः यहाँ अन्तमें 'हरिचरित्रमानस' पद दिया।)

नोट—२ ☞ *'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।'* (१। १२०) उपक्रम है और *'हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा'* उपसंहार है। हरिचरित्र और रामचरित्र एक ही बात हुई। मानसकथाका उपसंहार वा समाप्ति यहाँ हुई।

गौड़जी—यहाँ 'हरिचरित्रमानस' की जगह 'रामचरितमानस' कहनेसे छन्दोभंग भी नहीं होता और किसी प्रकार भ्रम भी नहीं उत्पन्न होता। अतः 'हरिचरित्रमानस' कहनेका कोई विशेष तात्पर्य होगा। पहले भी कह आये कि *'जलसीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥'* साथ ही यह भी सूचित किया है कि राम अनन्त हैं, उनकी गुणावली अनन्त है, उनके जन्म अनन्त हैं, उनके कर्म अनन्त हैं और उनके नामोंकी संख्या अनन्त है। और उसपर भगवान् शंकर यह कहते हैं कि वह सारी कथा मैंने तुमसे सुनायी है जो भुशुण्डिने गरुड़को सुनायी थी और इस सारी कथामें क्या है—*'कछुक रामगुन।'* शिवजीका जैसे यह दावा है कि भुशुण्डिकी कही सारी कथा हमने सुनायी है, उसी तरह यह दावा नहीं है कि हमने रामजीकी सारी कथा सुनायी है। क्योंकि रामचरित शतकोटि ही नहीं है, अपार है। वेद और शारदा वर्णन करते रहते हैं पर पार नहीं पा सकते। मैंने केवल यह सब कथा कही है। तात्पर्य यह है कि विश्वेश्वर शंकर, विश्वपति नारायण, महात्रिमूर्ति, ब्रह्माण्ड त्रिमूर्ति, मनु, प्रजापति, कुमारगण, रुद्रादित्यवसु, साध्य, ऋषि आदिसे लेकर असंख्य अवतार जो अनादिकालसे होते आये हैं और आगे जो होते रहेंगे, वह सबके सब रामजीके ही अवतार हैं, इसलिये रामके गुण, जन्म, कर्म और नाम अनन्त हैं। गोस्वामीजी 'राम' शब्दका प्रयोग किसी संकुचित अर्थमें नहीं करते, परात्पर परब्रह्म परमात्माका ही नाम राम है। वही पूर्ण, अंश, कला, विकला, विकलांश सभी रूपोंमें अपनी विभूतियोंको लेकर प्रकट होते हैं और चरित करते रहते हैं। उनकी माया ऐसी विकट है कि चरित करते हुए देखकर भी कोई नहीं देखता, जानकर भी कोई नहीं जानता—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥'* श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके तीसरे अध्याय श्लोक २६ में कहा है—'**अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः। ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः। कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥ २७॥ एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्॥ २८॥**' और गीतामें भी कहा है कि—'**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥**' (१०। ४१)

अतः जितनी विभूतियाँ जगत्‌में हुई हैं और होंगी, सबके रूपमें और सबके नाममें तथा सबके जन्म-कर्ममें रामके ही अवतार जन्म-कर्म और नामको ही समझनेवाला रामकी अनन्तताकी कुछ कल्पना कर सकता है। यह तो इस एक मर्त्यलोककी बात हुई, परंतु ब्रह्माण्ड तो एक विश्वमें अनन्तकोटि हैं और स्वयं विश्व अनन्तकोटि हैं तथा यह अनन्तकोटि विश्व एक पादविभूति है—'**पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**' (श्रुति पुरुषसूक्त)।

अब विचार कीजिये कि जब अनन्तकोटि विश्व हैं तब उन विभूतियोंकी क्या संख्या होगी जिन्हें हम अवतार कहते हैं? इसलिये यदि रामका चरित वेद अनन्तकालसे गाते हैं और शेष अपने सहस्र-सहस्र मुखसे कहते आते हैं तथा फिर भी समाप्त नहीं होता तो यह स्वाभाविक है, कोई अत्युक्ति नहीं है और समाप्त हो कैसे! भगवान्‌की लीला कभी समाप्त होती है! उसका तो तभी अन्त हो जब भगवान्‌का अन्त हो परंतु *'राम अनंत अनंत गुनानी।'*

यहाँ फिर हरिचरित्रमानस क्यों कहा? क्योंकि रामचरितमानस आदिसे अबतक जो कह आये हैं वह केवल रामावतारकी कथा है और वह भी चार ही अवतारोंकी कथा है। रामके तो अनन्त अवतार हैं और यह तो केवल परात्परब्रह्म, नारायण और विष्णुकी कथा है। इसीलिये श्रीपार्वतीजी हरिचरित्रमानस कहकर यहाँ उस संकुचित भावको स्पष्ट कर देती हैं कि आपने चार ही अवतारोंकी कथा कही है हरिसे परात्परब्रह्मकी सूचना भी होती है। मानसकारने इसे आरम्भमें ही '**रामाख्यमीशं हरिम्**' कहकर दी है। नारायण और विष्णुका नाम हरि तो प्रसिद्ध ही है। इस तरह रामावतारकी कथा होनेसे रामचरितमानस नामका पर्याय हरिचरित्रमानस बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

उत्तरकाण्ड

(उत्तरार्द्ध)

'भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी भूमिका'

तुम्ह जो कही* यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥ ८॥

दो०—बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़ राम चरन अति नेह।
बायस तन रघुपति-भगति मोहि परम संदेह॥ ५३॥

अर्थ—आपने जो यह कहा कि यह सुन्दर कथा काकभुशुण्डिजीने गरुड़से कही थी॥ ८॥ भुशुण्डिजी वैराग्य, ज्ञान और विज्ञानमें दृढ़ हैं, उनका श्रीरामजीके चरणोंमें अत्यन्त प्रेम है। 'कौएके शरीरमें रघुनाथजीकी भक्ति?' यह मुझे परम संदेह हो रहा है॥ ५३॥

टिप्पणी—१ *'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई……'* इति। यथा—*'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई।* ५२। ६।'

वै०—*'बायस तन।'* भाव कि वायस पक्षी और उसपर भी पक्षियोंमें चाण्डाल, कुटिल, चंचल स्वभाव और सर्वभक्षी है। सर्वभक्षीमें विराग आश्चर्य, चंचलमें ज्ञान आश्चर्य, कुटिलमें विज्ञान आश्चर्य और चाण्डालमें रामभक्ति, रामप्रेम आश्चर्य है।

वि० त्रि०—*'बायस पलिअहि अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥', 'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती'* सो वायसमें विराग ज्ञानादिका होना ही कम सन्देहकी बात नहीं है, तब वायस-शरीरमें रघुपतिभक्ति कैसे उत्पन्न हुई, इस विषयमें मुझे परम सन्देह हो रहा है। क्योंकि हरिभक्तिकी प्राप्ति जीवन्मुक्तको भी दुर्लभ है (जैसा कि आगे कहेंगे) उसका लाभ कागको कैसे हुआ?

टिप्पणी—२ *'मोहि परम संदेह।'* भाव कि काकतनमें एक ही वस्तुकी प्राप्ति होनेमें संदेह होता, पर यहाँ तो काकतनमें हरिचरित्रमानस, वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान और श्रीरामचरणमें अति नेह इन सबोंकी प्राप्ति देखती हूँ, अतएव 'परम सन्देह' है कि ये सब इनको किस प्रकार प्राप्त हुए। [यहाँ अनमेल दरसानेमें 'प्रथम विषम अलंकार' है। (वीर)]

३—भुशुण्डिजी रामजीके आशीर्वादसे ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यमें दृढ़ हैं, यथा—*'भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा। जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥* ८५। ७-८॥'

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रत धारी॥ १॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥ २॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई॥ ३॥
ज्ञानवंत कोटिक महुँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥ ४॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी॥ ५॥

अर्थ—हे पुरारी! सुनिये। हजारों मनुष्योंमें कोई एक धर्मव्रतका धारण करनेवाला होता है॥ १॥ करोड़ों धर्मात्माओंमें कोई एक विषयसे विमुख (विषयोंकी ओर न देखनेवाला) और वैराग्यमें अनुरक्त अर्थात् वैराग्यवान् होता है। (तात्पर्य कि विषयरहित वैराग्य दुर्लभ है)॥ २॥ श्रुति कहती है कि करोड़ों वैराग्यवानोंमें कोई एक

* कहा—(का०)।

पूर्ण ज्ञान पाता है॥ ३॥ करोड़ों ज्ञानियोंमें कोई ही जीवन्मुक्त होता है, वह भी संसारभरमें कोई एक ही होता है॥ ४॥ उन ऐसे हजारों जीवन्मुक्तोंमेंसे सब सुखोंकी खानि ब्रह्ममें लीन विज्ञानी होना दुर्लभ है॥ ५॥

पं० रा० व० श०—'*धर्मब्रत धारी*'=धर्मके लिये गर्मी-सर्दी, मान-बड़ाई समस्त देहसुख इत्यादिको कुछ न समझकर उसमें मर मिटनेवाला, यथा—'*सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तन धन तजेउ बचन पन राखा॥*' (२। ३०। ७) साधारण धर्म भी विषय हैं। इन्द्रियाँ गाढ़तर विषयोंमें लग चुकी हैं उनसे अलग नहीं होतीं; अतः 'विषयोंसे विमुख' होना कहा।

टिप्पणी—१ सम्यक् ज्ञान वह है जो किसी बाधासे बाधित नहीं होता। २—'*ब्रह्मलीन*' का भाव कि ब्रह्मवृत्ति कभी नहीं छूटती, वह ब्रह्मसे कभी अलग नहीं हो सकता। ३—'*सब सुख खानि*' का भाव यह है कि जब वह विज्ञानी ब्रह्मलीन हुआ तब सब सुखोंकी खानि हो गया। अर्थात् धर्म, वैराग्य, ज्ञान और जीवन्मुक्ति इन सबोंका सुख उसको प्रथम प्राप्त हुआ तब ब्रह्मलीन विज्ञानका सुख हुआ है इसीसे उसको सब सुखोंकी खानि कहा। ४—'*दुर्लभ*' क्योंकि यहाँतक पहुँचना कठिन है।

मिलान कीजिये—'**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥**' (गीता ७। ३)

करु०—यह अंश महारामायणसे मिलता-जुलता है। शिवजी कहते हैं—'**मुग्धे शृणुष्व मनुजोऽपि सहस्रमध्ये धर्मव्रती भवति सर्वसमानशीलः। तेष्वेव कोटिषु भवेद्विषये विरक्तः सद्ज्ञानको भवति कोटिविरक्तमध्ये॥ १॥ ज्ञानिषु कोटिषु नृजीवनकोऽपि मुक्तः कश्चित्सहस्रनरजीवनमुक्तमध्ये। विज्ञानरूपविमलोऽप्यथ ब्रह्मलीनस्तेष्वेव कोटिषु सकृत् खलु रामभक्तः॥ २॥ शान्तस्समानमनसा च सुशीलयुक्तस्तोषक्षमागुणदयाऋजुबुद्धियुक्तः। विज्ञानज्ञानविरतिः परमार्थवेत्ता निर्द्धामकोऽभयमनाः स च रामभक्तः॥ ३॥**'

नोट—भगवान्ने जो भुशुण्डिजीसे कहा है वह भी इन चौपाइयोंसे मिलता-जुलता है।—'*सब ते अधिक मनुज मोहि भाए। तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुति धारी। तिन्हमहुँ निगम धरम अनुसारी॥ तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥ तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥*' (८६। ४-७) दोनोंका क्रम एक-सा है।

गीताके उपर्युक्त श्लोक (७। ३) में अत्यन्त सूक्ष्म रीतिसे जो कहा है उसकी विस्तृत व्याख्या इन चौपाइयोंको कह सकते हैं। वहाँ '**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये**' (अर्थात् सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई ही सिद्धि-प्राप्तितक यत्न करता है) इस पूर्वार्धमें '*नर सहस्र महँ*' से '*जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।*' तककी सब सीढ़ियाँ आ जाती हैं। और '**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।**' में '*सब तें सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥*' को ले सकते हैं; क्योंकि जो भगवान्को तत्त्वतः जानता है वह फिर उन्हींका हो जाता है—'*जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।*'

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ ६॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥ ७॥
सो हरिभगति काग किमि पाई। बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥ ८॥

अर्थ—हे सुरराया! धर्मात्मा, वैरागी, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानी, इन सब प्राणियोंमेंसे वह प्राणी मिलना दुर्लभ है जो मदमायारहित रामभक्तिमें परायण हो॥ ६-७॥ ऐसी वह हरिभक्ति कौवेने कैसे पायी? हे जगत्पति! मुझे समझाकर कहिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) धर्मशीलादि पाँचोंको पहले क्रमशः अलग-अलग कह आये, अब इन्हीं सबको यहाँ एकत्र कहते हैं। जो क्रम ऊपर और यहाँ दिया है, वही क्रम इनकी उत्पत्तिका है। यथा—'*धर्म त बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥*' (३। १६। १) सबको पुनः इकट्ठा करके कहनेका भाव कि भक्तिका नियम नहीं है, चाहे जब और जिसके हृदयमें वह उदय हो जाय। यह आवश्यक

नहीं है कि जब अवधितक पहुँचे तभी प्राप्त हो। तात्पर्य कि उपर्युक्त पाँचों अवस्थाओंमेंसे भक्ति जिसहीको मिल जाय कोई ठीक नहीं है। (ख) *'सब ते सो दुर्लभ'* इति। भाव कि दुर्लभ सभी (उपर्युक्त पाँचों ही साधन) हैं पर यह सबसे दुर्लभ है।

खर्रा—धर्मशीलादि जो पाँच पूर्व कहे वह भूमिका क्रमसे कहे। इनमेंसे कोई भी प्राप्त हो। अथवा ये सब एक ही बार जिसको प्राप्त हों उससे भी *'रामभक्ति रत गत मदमाया'* दुर्लभ है। अर्थात् ये सब भी साध्य नहीं हैं।

रा० प्र०—यहाँ धर्मशीलादि पाँच गिनाये और इनसे रामलग्नवाले छठेको सर्वोत्तम कहा।

नोट—करुणासिन्धुजी इस प्रसंगमें भक्तिकी सप्तभूमिकाएँ कहते हैं—(क) निजधर्मव्रतधारी होकर वेदके बताये विधिकर्म प्रेमपूर्वक करके श्रीरामार्पण करे। (ख) शीलवान् हो अर्थात् इन्द्रियविषयमें आसक्त न हो। (ग) विषयोंसे पूर्ण वैराग्य हो। (घ) सम्यक् ज्ञान हो अर्थात् जैसे अपनी आत्माको देखता है, वैसे ही चराचरको देखे, अनात्माको भिन्न देखे। (ङ) जीवन्मुक्त हो अर्थात् देह धरे हुए भी संसारसे मुक्त हो, हर्षशोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, निरभिमान हो। (च) ब्रह्मलीन विज्ञान वह दशा है जिसमें जीव अन्तर्यामी ब्रह्मकी एकता है। यह सुखखानि है। (छ) मदमायारहित रामभक्ति।

२ *'सुरराया'* का भाव कि देवताओंके स्वामी होनेसे आप सबका हाल जानते हैं कि मदमायारहित रामभक्ति देवताओंको भी दुर्लभ है। (मद-दोहा ४६ देखो)।

टिप्पणी—२ *'सो हरिभगति काग किमि पाई।'''''''''बुझाई।'* इति। 'विश्वनाथ' का भाव कि विश्वभरका हाल आप जानते हैं। *'कहहु बुझाई'* का भाव कि जिसमें मुझे समझ पड़े। ☞महादेवजी इसका उत्तर आगे देंगे कि पाँच योगोंसे भुशुण्डिको भक्ति मिली है—(१) अवधपुरीके प्रभावसे। (२) मेरे अनुग्रहसे, यथा—*'पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥'* (१०९। १०) (३) स्वाभाविक; यथा—*'करउँ सदा रघुनायक लीला।'* (४) लोमशजीके वरदानसे, यथा—*'रामभगति अबिचल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥'* (११३। १६) (५) श्रीरामजीके वरदानसे, यथा—*'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥'* (८४) *'एवमस्तु कहि'''''''''।'*

काकशरीर तीन योगोंसे हुआ—(१) लोमशजीकी आज्ञा भंग करनेसे, यथा—*'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥'* (११२। ११) (२) ज्ञानपक्षका खण्डन करनेसे, यथा—*'तब मैं निर्गुन मति करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठि भूरी॥'* (१११। १३) (३) लोमशजीके शापसे, यथा—*'सपदि होहि पक्षी चंडाला।'* (११२। १५)

रामचरित दो योगोंसे मिला। एक तो महादेवजीसे, यथा—*'सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।'* (१। ३०) दूसरे, लोमशजीके पढ़ानेसे, यथा—*'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥'* [प्र० स्वामीका मत है कि दो प्रकारसे मिलना भासित होता है पर यह विसंवादी भ्रम है। इसका गूढ़ मर्म दोहा ११३ (९) में स्पष्ट किया जायगा]—(१। ३०। ४) में भी इस सम्बन्धमें देखिये।

दो०—रामपरायन ज्ञानरत गुनागार मतिधीर।
नाथ कहहु केहि कारन पाएउ काक-सरीर॥५४॥

अर्थ—हे नाथ! कहिये तो कि श्रीरामानुरक्त, ज्ञानमें तत्पर, गुणोंके धाम और धीरबुद्धि-(होकर भी भुशुण्डिजी-) ने किस कारण कौवेका शरीर पाया? (भाव कि रामपरायणतादि गुण काकशरीर पानेके कारण नहीं हैं)॥ ५४॥

पं०—*'सो हरिभगति काग किमि पाई'* अर्थात् बताइये कि काक थे तो उस देहमें भक्ति कैसे मिली? इसके उत्तरमें यदि वे कहें कि जब भक्ति पायी तब काक देह न थी, तो उसपर यह दूसरा प्रश्न है कि जिसमें भगवद्भक्ति आदि सर्वगुण हैं उसका काकशरीर कैसे हुआ?

रा० शं०—यदि कहो कि किसीका अपराध किया होगा तो रामपरायणादि गुणयुक्तसे किसीका अपराध सम्भव नहीं। रामभक्त (*'मंद करत जो करत भलाई'*), ज्ञानरत (*'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*), गुणागार (सज्जन, यथा—*'जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।'* (४। १४। ७) तथा—*'साधु ते होइ न कारज हानी।'* (५। ६। ४) और रामकृपापात्र, यथा—*'काहे न होउ परम पुनीत सदगुनसिंधु सो'*) और मतिधीर हैं अर्थात् कामक्रोधादिके वेगसे रहित, गुणोंका मद नहीं। तब अपराध कैसे सम्भव हो सकता है?

मा० म०—पूर्व जो कहा था कि *'बायसतन रघुपति भगति मोहि परम संदेह'* उसका तात्पर्य यह है कि काकदेहमें भक्ति कैसे हुई और भक्ति प्राप्त होनेपर काकदेह क्यों रही? और इस दोहेका भाव यह है कि यदि भक्तिका साज किसी उत्तम शरीरमें मिल सकता था तो वायसशरीर क्यों मिला?

वै०—भक्ति एक जन्ममें प्राप्त नहीं हो सकती, अत: यह अनुमान कर कि पूर्व जन्ममें इनको उत्तम देह रही होगी जिसमें ये गुण प्राप्त हुए होंगे, यह प्रश्न किया।

यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥ १॥
तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥ २॥
गरुड़ महा ज्ञानी गुनरासी। हरिसेवक अति निकट निवासी॥ ३॥

अर्थ—हे दयालु! कहिये, प्रभुका यह सुन्दर पवित्र चरित्र कौवेने कहाँ पाया?॥ १॥ हे कामारि! कहिये तो, आपने किस प्रकार सुना? मुझे बहुत भारी कुतूहल (आश्चर्य) है॥ २॥ गरुड़जी परम ज्ञानी, गुणराशि, हरिसेवक और हरिके अत्यन्त समीपवर्ती हैं अर्थात् भगवान्‌के वाहन हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'पवित्र सुहावा'* विशेषण देनेका भाव कि यह रामयशसे पूर्ण है और इसकी रचना विचित्र है। [पुन:, पवित्र और सुहावा (शोभायमान) कहकर जनाया कि ऐसा चरित्र किसी प्रकार भी चाण्डाल, अपवित्र, अशोभित पक्षी कौवेके योग्य नहीं हो सकता। (रा० शं०)] *'कहहु कृपाल'* अर्थात् कृपा करके कहिये। तात्पर्य कि काकशरीरमें इस रामचरितमानसका मिलना असम्भव है। (ख) *'काग कहँ पावा'* का भाव कि यह मुनियोंको भी दुर्लभ है तब भला काक कैसे पा सकता है?

२ (क) *'केहि भाँति'* का भाव कि मैं तो सदा साथ रहती हूँ उस समय मैं कहाँ थी? (ख) *'कौतुक भारी'*। इससे कि आपने ईश्वर होकर काकसे रामकथा सुनी। (ग) *'मदनारी'* का भाव कि कामके रहते कथा व्यर्थ हो जाती है, यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* आप कामके शत्रु हैं, इसीसे आपके कहनेसे कथा सफल होती है। अर्थात् आपके मुखसे सुननेसे जीवके हृदयका अन्धकार दूर हो जाता है। [पुन: *'मदनारी'* का भाव कि आप कामको जीतनेके लिये सदा समाधिनिष्ठ रहते हैं और मैं सदा साथ ही रहती हूँ, दोनोंको त्यागकर कैसे काकके पास सुनने गये। (पं०) सती-शरीरमें मैं साथ ही रही। कामको भस्म करनेके पूर्व आप समाधिस्थ ही थे। कामदेवने ही तो आकर आपकी समाधि छुड़ाई थी और तत्पश्चात् तुरत ही विवाह हुआ तबसे फिर मैं साथ ही हूँ। अतएव समझमें नहीं आता कि कब आप भुशुण्डिजीके पास गये और कथा सुनी। (वै०)]

३ *'गरुड़ महा ज्ञानी गुनरासी।.......'* इति। ऊपर भुशुण्डिजीके विशेषण दे आयीं कि वे रामपरायण, ज्ञानरत, गुणागार और मतिधीर हैं और यहाँ गरुड़जीके विषयमें कहती हैं कि ये महाज्ञानी, गुणराशि, हरिसेवक और हरिके अत्यन्त निकटनिवासी हैं। चार ही विशेषण यहाँ भी देकर दिखाते हैं कि गरुड़जी भुशुण्डिजीसे किसी बातमें कम नहीं हैं। जैसे कि—भुशुण्डिजी ज्ञानरत हैं तो गरुड़जी महाज्ञानी हैं, वे गुणागार हैं तो ये भी गुणराशि हैं, वे रामपरायण हैं तो ये भी हरिसेवक हैं और वे मतिधीर हैं तो ये हरिके अति निकट निवासी हैं। (वे मतिधीर और ये अत्यन्त निकट निवासी हैं। अत: दोनों ही मोहादि विकारोंसे रहित हैं। मोह नहीं हो सकता और हरिसे अलग हो नहीं सकते तब इतनी दूर कैसे जायँगे और कथा क्यों जाकर सुनेंगे)। तब गरुड़जी किस कारण कागसे कथा सुनने गये? [गरुड़जीको *'अति निकट निवासी'* कहकर भुशुण्डिजीको दूरनिवासी सूचित किया। (रा० शं०)]

पं० रा० व० श०—*'महा ग्यानी'*। जिनके पखनोंसे सामवेद उच्चारण होता है उनके ज्ञानको क्या कहा जाय?

तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई॥४॥

कहहु कवन बिधि भा संबादा। दोउ हरिभगत काग उरगादा॥५॥

अर्थ—(ऐसे महाज्ञानी आदि) उन गरुड़ने किस कारण मुनियोंका समूह छोड़कर कौवेके पास जाकर कथा सुनी॥ ४॥ कहिये कि कागभुशुण्डि और गरुड़ दोनों हरिभक्तोंका संवाद किस प्रकार हुआ (भाव कि दोनों हरिभक्त हैं, उनका संवाद अवश्य सुनने योग्य होगा)॥ ५॥

पं०—*'केहि हेतु'* का भाव कि इसमें कोई विशेष कारण अवश्य है। *'कवन बिधि भा संबादा'* अर्थात् जब दोनों मिले तो किस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए।

☞ श्रीपार्वतीजीके प्रश्न यहाँ समाप्त हुए।

प्रश्नोत्तर

गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई। बोले सिव सादर सुख पाई॥६॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीकी सरल सुन्दर वाणी सुनकर श्रीशिवजी सुख पाकर आदरसहित बोले॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'गौरि गिरा सरल सुहाई'* इति। (क) वाणी *'सुहाई'* है (क्योंकि) इसमें उन्होंने छः प्रश्न किये हैं—(१) भक्तिकी प्राप्ति। (२) काग शरीरकी प्राप्ति। (३) रामचरितकी प्राप्ति। (४) भुशुण्डिजीसे शिवजीका कथा सुनना, (५) भुशुण्डिजीसे गरुड़का जाकर सुनना और (६) भुशुण्डि-गरुड़-संवाद। ये छहों प्रश्न अत्यन्त सुन्दर हैं इसीसे गिराको 'सुहाई' कहा। और, वाणी सुगमता लिये है तथा छलरहित है। इसीसे शिवजीको सुख हुआ। कपट-छलयुक्त प्रश्नोंसे वक्ताका हृदय दग्ध हो जाता है। विशेष *'प्रस्न उमाके सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥'* (१। १११। ६) में देखिये। [रहस्य जाननेकी रुचि देख सुख हुआ। (रा० प्र०)]

नोट—१ *'बोली अति बिनीत मृदुबानी॥'* (५२। ८) उपक्रम है और *'गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई'* उपसंहार। *'अति बिनीत'* और 'मृदु' होनेसे *'सरल सुहाई'* है। पुनः, भुशुण्डि-गरुड़-संवाद-विषयक प्रश्न प्रसंगका उपक्रम *'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥'* (५३। ८) है और उपसंहार *'गौरि गिरा……'* है।

धन्य सती पावनि मति तोरी। रघुपति-चरन प्रीति नहिं थोरी॥७॥

सुनहु परम पुनीत इतिहासा। जो सुनि सकल सोक* भ्रम नासा॥८॥

उपजै रामचरन बिस्वासा। भवनिधि तर नर बिनहि प्रयासा॥९॥

अर्थ—सती! तुम धन्य हो। तुम्हारी बुद्धि पवित्र है। रघुनाथजीके चरणोंमें तुम्हारा प्रेम थोड़ा नहीं है, बहुत है॥ ७॥ परम पवित्र इतिहास सुनो, जिसे सुननेसे मनुष्योंके समस्त शोक और भ्रम नाश हो जाते हैं॥ ८॥ श्रीरामजीके चरणोंमें विश्वास उत्पन्न होता है और मनुष्य बिना परिश्रम ही भवसागर तर जाता है†॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'धन्य सती पावनि मति तोरी।……'* इससे सूचित किया कि तुम्हें तीनों काण्ड सिद्ध हैं। 'धन्य' से कर्मकाण्ड कहा, यथा—'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः *'पावनि मति'* से ज्ञानकाण्ड कहा, क्योंकि ज्ञानसे मति पवित्र होती है। और *'रघुपतिचरन प्रीति नहिं थोरी'* से उपासनाकाण्ड कहा। श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होना उपासना है। [रा० प्र०-*'बोले सिव सादर'* जो ऊपर कविने कहा वह सादर वचन यही है।]

---

* सोक-रा० गु० द्वि० (गुटका), का०। लोक-भा० दा०, छ०।

† अत्यल्प साधनसे अलभ्यलाभवर्णन 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। 'भवनिधि' में निरंगरूपक है—(वीर)।

२ सती-शरीरमें मति अपावनी थी इसीसे तब श्रीरामजीको मनुष्य मान रही थीं। अब रामचरणमें प्रेम देखकर उसी मतिको 'पावनि' कहते हैं जिससे सतीका पूर्व पश्चात्ताप मिट जाय। [सतीतनमें मोह हुआ था, इसीसे अब 'पावनि' कहनेमें वही नाम दिया। अथवा, सती=पतिव्रते!]

वि० त्रि०—जिसकी मति पावन होती है, उसीकी रघुपतिचरणमें प्रीति होती है। (यथा—*'धन्य पुन्यमय मति सोइ पाकी'*)। सतीके हृदयमें ऐसी प्रीति हरिचरणोंमें है कि कथा सुननेमें अघाती नहीं, अत: शिवजी उन्हें धन्य कहते हैं। उनके मतिकी प्रशंसा करते हैं। और, उन्हें सती करके सम्बोधन करते हैं। सभी सती धन्य हैं, यथा—*'धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी।'* उनमें भगवती गिरिनन्दिनीकी प्रथम रेख है, (यथा—*'पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख'*) वैसी ही वाणी उनके मुखसे निकली, यथा—*'नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्ह मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥'* अत: शिवजीने सती सम्बोधनपूर्वक धन्य कहा। अथवा भगवतीके पूर्व जन्म-(सती-अवतार-) के प्रसंगसे कथा आरम्भ करना है। यथा—*'प्रथम दक्ष गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा॥'* अत: सती नामसे ही सम्बोधन किया।

टिप्पणी—३ *'परम पुनीत इतिहासा'* पवित्रको भी पवित्र करे वह 'परमपुनीत' है। (रा० शं०—*'पावनि मति'* कहकर इतिहासको परमपुनीत कहनेका भाव कि इसके सुननेके लिये बुद्धि पवित्र होनी चाहिये सो तुम्हारी बुद्धि उसके योग्य है)। ३—*'उपजै रामचरन बिस्वासा……'* इति। जब शोक और भ्रमका नाश हो जाता है तब रामजीमें विश्वास होता है और विश्वास होनेपर बिना परिश्रम भवसे छुटकारा मिलता है। इसीसे प्रथम *'शोक भ्रम'* का नाश कहा तब विश्वास और तब भवनिधिका तरना कहा।

दो०—ऐसिअ प्रस्न बिहंगपति कीन्हि काग सन जाइ।
सो सब सादर कहिहौं सुनहु उमा मन लाइ॥५५॥

अर्थ—ऐसे ही प्रश्न पक्षिराजने कागभुशुण्डिसे जाकर किये थे। वह सब मैं आदरपूर्वक कहूँगा। हे उमा! मन लगाकर सुनो॥ ५५॥

टिप्पणी—१ *'ऐसिअ'* अर्थात् जो प्रश्न तुमने मुझसे किये इसी प्रकारके प्रश्न गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे किये थे। जो उत्तर उन्होंने दिया था वही हम तुमसे कहेंगे। ☞सब (पाँच) प्रश्न जो यहाँ किये वे तो गरुड़ने किये नहीं हैं अतएव *'ऐसिअ'* का भाव यह है कि मुख्य प्रश्न तुम्हारे यही हैं कि—१ कागशरीरमें भक्ति कैसे मिली? २—यदि काकशरीर पीछेका है तो रामपरायणादि गुणसम्पन्नको काकशरीर कैसे मिला? तथा ३—कागने यह चरित्र कहाँ पाया?

पं० रा० व० श०—*'कहिहौं'* भविष्य क्रिया देकर जनाया कि इन्हें पीछे कहूँगा और अपने प्रसङ्गका प्रश्न अभी कहता हूँ सो सुनो, यथा—*'सो प्रसंग सुनु……।'* *'ऐसिअ'*—ये तीन प्रश्न गरुड़जीने किये हैं।—

रामपरायन ज्ञानरत गुनागार मतिधीर।	१	*'तुम्ह सर्बज्ञ तज्ञ तम पारा।……'*
नाथ कहहु केहि कारन पाएहु काक सरीर॥		*कारन कवन देह यह पाई।*
सो हरिभगति काग किमि पाई	२	*तात सकल मोहि कहहु बुझाई॥*
यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।	३	*रामचरित सर सुंदर स्वामी।*
कहहु कृपाल काग कहँ पावा।		*पायेउ कहाँ कहहु नभगामी॥*

'तुम्ह केहि भाँति सुना' का उत्तर

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि॥ १॥
प्रथम दक्षगृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा॥ २॥
दक्षजज्ञ तव* भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना॥ ३॥

* जब-(का०)।'

अर्थ—मैंने जिस प्रकार भव छुड़ानेवाली यह कथा सुनी। हे सुमुखे! हे सुलोचने! वह प्रसङ्ग सुनो॥ १॥ पहले तुम्हारा अवतार दक्षके घर हुआ था। तब तुम्हारा नाम सती था॥ २॥ दक्षके यज्ञमें तुम्हारा अपमान हुआ तब तुमने अत्यन्त क्रोधमें आकर प्राण छोड़ दिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'मैं जिमि कथा सुनी.......'* इति। (क) पार्वतीजीने जो पूछा कि *'तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥'*, प्रथम उस प्रश्नका उत्तर शिवजी यहाँ देते हैं कि जैसे सुना वह प्रसंग सुनो। [श्रीपार्वतीजीने प्रथम श्रीकागभुशुण्डिसम्बन्धी तीन प्रश्न किये हैं। यथा—*'बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह॥ ५३॥ सो हरि भगति काग किमि पाई।'*, *'रामपरायन ज्ञानरत.......केहि कारन पायउ काकसरीर॥ ५४॥'*, *'यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।.......काग कहँ पावा।'* इनके पश्चात् *'तुम्ह केहि भाँति सुना'* यह प्रश्न है। यहाँ शिवजी प्रथम अपने सम्बन्धके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं। कारण कि शेष प्रश्नोंके उत्तर भुशुण्डि-गरुड़-संवादमें एक साथ आ जायँगे। यदि क्रमसे प्रश्नोंके उत्तर देते तो उनके बीचमें अपने सम्बन्धकी कथा सुनानेकी बात बेमेल पड़ती। अतः सूची-कटाहन्यायसे प्रथम इस प्रश्नका उत्तर देते हैं जो अगले और पिछले दोनों प्रश्नोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता तथा दोनोंसे पृथक् ही प्रसङ्ग है। (वीर)] (ख) सुन्दर प्रश्न किया अतः 'सुमुखी' कहा और 'सुलोचनी' कहनेका भाव कि जो मैं कहता हूँ उसपर दृष्टि दो।

२ (क) *'प्रथम दक्षगृह तव अवतारा'* अर्थात् प्रथम अवतार दक्ष-प्रजापतिके यहाँ हुआ, दूसरा हिमाचलके यहाँ। ['अवतारा' शब्दसे देवर्षि नारदके *'जगदंबा तव सुता भवानी। अजा अनादि शक्ति अविनासिनी॥ सदा संभु अरधंग निवासिनि। जग संभव पालन लयकारिनि॥ निज इच्छा लीला बपु धारिनि। जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई॥ नाम सती.......।'* (१। ९८) इन वचनोंको चरितार्थ किया] (ख) *'तब रहा'* अर्थात् अब सती नाम नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अब सती नाम नहीं है, तो शिवजीने ऊपर कैसे कहा कि *'धन्य सती पावनि मति तोरी।'* यहाँ 'सती' शब्द 'पतिव्रता' के भावसे कहा है। यथा—*'सती साध्वी पतिव्रता इत्यमरः'*, *'सती सिरोमनि सिय गुनगाथा।'*

३ (क) *'दक्षजज्ञ'* कहनेका भाव कि यज्ञमें देवताओंका भाग होता है, उसमें हमारा भाग न था, यह देखकर तुम्हें क्रोध हुआ था। यथा—*'सती जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा॥'* (१। ६३। ४) (४) *'अति क्रोध'* का भाव कि हमारे अपमानसे तुमने अपना अपमान माना। इसीसे अतिक्रोध हुआ और अतिक्रोधसे तुमने प्राण त्याग दिये। [अपमान तो यह भी हुआ कि *'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता'* और *'दच्छत्रास काहु न सनमानी'* पर भागका न मिलना यह सबसे भारी अपमान हुआ—*'प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ'*, *'सब तें कठिन जाति अपमाना'*, इसीसे अति क्रोध हुआ—*'समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा।'* अतिसे असह्य जनाया—*'बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा। सिय अपमान न जाइ सहि.......॥'* (१। ६३]

मा० म०—जो बिना बुलाये नहीं जाता वह बुलानेवालेके मानको नाश करता है और जो बिना बुलाये किसीके यहाँ जाता है उसका मान स्वयं भ्रष्ट होता है। बिना बुलाये जानेसे ही सतीका अपमान हुआ—[*'जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी॥'*]

मम अनुचरन्ह कीन्ह मखभंगा। जानहु तुम्ह सो सकल प्रसंगा॥ ४॥
तब अति सोच भएउ मन मोरे। दुखी भएउँ बियोग प्रिय तोरें॥ ५॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरौं* बेरागा॥ ६॥
गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी॥ ७॥

अर्थ—मेरे सेवकोंने यज्ञविध्वंस किया, वह सब प्रसङ्ग तुम जानती हो॥ ४॥ तब मेरे मनमें बड़ा

* 'फिरै बिरागा'—का०-

सोच हुआ। हे प्रिये! मैं तुम्हारे वियोगसे दुःखी हुआ॥ ५॥ सुन्दर वन, पर्वत, नदी और तालाबोंका कौतुक बिना रागके वा वैराग्यवान्‌की तरह देखता फिरता था* (कि जी बहल जाय, शोक दूर हो जाय, मन कहीं लग जाय, पर कहीं प्रीति होती न थी, कहीं मन लगता न था)॥ ६॥ उत्तर दिशामें सुमेरु पर्वतसे बहुत दूरीपर एक बहुत ही सुन्दर नील पर्वत है॥ ७॥

टिप्पणी—१ दक्षयज्ञभङ्गकी कथा विस्तारसे श्रीमद्भागवतमें है। *'जानहु सो'* सेंसूचित किया कि इसीसे हम विस्तारसे नहीं कहते। यज्ञ करने और करानेवालोंकी जो दुर्दशा हुई वह शिवजी अपने मुखसे नहीं कहते। *'जानहु तुम्ह सो.........'* से ही वह सब जना दी—[बालकाण्डमें सब कथा विस्तृतरूपसे दी जा चुकी है जो ***'सतीमरन सुनि संभुगन लगे करन मखखीस'*** बा० ६५ से प्रारम्भ हुई है]।

वि० त्रि०—यहाँपर शिवजीको सतीके विरहमें घूमते हुए अपना नीलगिरि पर्वतपर जाना वर्णन करना है। वह सती तुम ही हो, और तुमसे विरह अमुक कारणसे हुआ, यह सब प्रसंग विस्तारसे यहाँ कहना प्राप्त था। क्योंकि पूर्व जन्मकी कथा किसीको याद नहीं रहती, परंतु जगदम्बा तो जातिस्मर हैं सब कथा ठीक-ठीक स्मरण है। अतः शिवजी कहते हैं कि 'तुम तो वह सब प्रसङ्ग जानती ही हो।'

टिप्पणी—२ *'तब अति सोच भएउ.........'* इति। (क)—*'अति सोच'* का भाव कि तुमने हमारे अपमानसे शरीर त्याग किया। इसीसे तुम्हारे वियोगसे हमको अति सोच हुआ।—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥**' (गीता ४। ११) (ख) *'प्रिय'* सम्बोधन देकर अति सोचका दूसरा कारण यह बताया कि तुम हमको प्रिय हो।-यह भक्तवत्सलताका प्रेम दिखाया-(पं०)। [पूर्व जो बालकाण्डमें कहा है कि *'जब ते सती जाइ तनु त्यागा। तब ते शिवमन भएउ बिरागा॥ जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा॥'* (७५। ७-८)*'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥'* (७६। २) वही सब भाव *'दुखी भएउँ'* से *'बेरागा'* तकमें है।]

☞ *'गिरि सुमेर.........'* यहाँ भुशुण्डिजीवाले नीलगिरिका पता बतानेके लिये 'सुमेरुपर्वत' का नाम दिया (क्योंकि यहाँ देवताओंका वास रहता है इससे इसे पार्वतीजी जानती हैं। देवता इसीकी शरण लिया करते थे।)

पं० रा० व० श०—सुमेरु इलावर्त खण्डमें है। यह कमलकी कर्णिकाके समान नीचे पतला और ऊपर चौड़ा है।

तासु कनकमय सिखर सोहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥ ८॥
तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥ ९॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि सोपान देखि मन मोहा॥ १०॥

अर्थ—उस नीलपर्वतपर चार स्वर्णमय सुन्दर दीप्तिमान् शिखर हैं। वे मेरे मनको बहुत अच्छे लगे। (भाव कि मेरा मन वहाँ लग गया, उनकी सुन्दरता देखकर मेरे मनको विश्राम मिला, शान्ति हुई)॥ ८॥ उन शिखरोंपर एक-एक भारी वृक्ष है—बरगद, पीपल, पाकर और आम। (ये उनके नाम हैं। एक-एक शृङ्गपर एक-एक वृक्ष है)॥ ९॥ पर्वतपर एक सुन्दर तालाब शोभित है, मणियोंकी सीढ़ियाँ देखकर मन लुभा गया॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) ***'चारु'*** मनका विशेषण है। (ख)—*'मन भाए।'* शृङ्ग देखकर 'मनको भाए', क्योंकि वहाँपर मायाके दोष और गुण नहीं जाते, यथा—*'मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥ रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥'* (५७। २-३)

नोट—कैलासपरकी प्रत्येक वस्तु सतीके सत्संग-सम्बन्धसे वियोगकी उद्दीपक है, इसीसे यद्यपि

---

* रा० प्र०-'अति सोच भयो', यह व्यवहारमें 'देखत फिरै बिरागा' का भाव कि जो तुम्हारे साथ सुखद था उससे विराग हो गया। अतः यह बिरही नये थल सुन्दर वनपर्वतादिमें कौतुक देखता फिरे।'

भा० दा० में 'बि०' था पर 'ि' पर हरताल है।

कैलासपरका वट *'सिव-विश्राम-बिटप'* है तो भी वह उनको विश्राम न दे सका और यहाँ मनको विश्राम मिला, अतः *'मन भाए'* और *'मन मोहा'* कहा। बा० दोहा १०५ (८) देखिये।

टिप्पणी—२ (क) *'बिटप बिसाला'* कहनेका भाव कि और सब वृक्ष छोटे हैं, विशाल वृक्ष चार ही हैं। (ख) *'देखि मन मोहा'* का भाव कि सुन्दर पर्वत और शिखर देखकर हमारे मनको भाये। पर तालाब और सोपान देखकर तो मन मोहित ही हो गया। आशय कि सर और सीढ़ियोंकी शोभा विचित्र है।

दो०—सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहु रंग।
कूजत कलरव हंसगन गुंजत मंजुल भृंग॥५६॥

अर्थ—शीतल, निर्मल और मीठा जल है, कमल बहुत और बहुत रंगके (उसमें खिले हुए) हैं। हंसगण सुन्दर (मधुर) शब्द बोलते हैं और सुन्दर भौंरे सुन्दर गुंजार कर रहे हैं॥ ५६॥

टिप्पणी—तालाबका वर्णन क्रमसे किया है, प्रथम तालाब कहा, तब जल, फिर कमल, हंस और भ्रमर क्रमसे कहे।

वै०—उत्तरमें वट है, पश्चिममें पीपल है, दक्षिणमें पाकर और पूर्व दिशामें आम। चारोंके मध्यमें आश्रम है।

तेहि गिरि रुचिर बसै खग सोई। तासु नाम कल्पांत न होई॥१॥
मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥२॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥३॥
तहँ बसि हरिहि भजै जिमि कागा। सो सुनु उमा सहित अनुरागा॥४॥

अर्थ—उस सुन्दर पर्वतपर वही पक्षी बसता है। उसका नाश कल्पका अन्त होनेपर भी नहीं होता॥ १॥ मोह, कामादि अर्थात् काम, क्रोध, लोभ और अज्ञान (इत्यादि) मायाके किये हुए अनेक गुण और दोष॥ २॥ सारे संसारमें व्याप रहे हैं, पर उस पर्वतके पास कभी नहीं जाते॥ ३॥ वहाँ बसकर जिस प्रकार वह काक भगवान्का भजन करता है, हे उमा! वह सब प्रेमसहित सुनो॥ ४॥

नोट—*'तासु नास कल्पांत न होई।' 'न होई'* का कारण बताया कि माया वहाँ नहीं व्यापती। वह पर्वतके निकट तो जा ही नहीं पाती तब भुशुण्डिजीके निकट तो जाना दूर ही रहा। काल भी मायाकृत है, अतः वह भी नहीं व्यापता। पर ग्रन्थोंमें सर्वत्र यही सुना जाता है कि महाप्रलयमें सबका नाश होता है तब ये कहाँ रहते हैं, यह शङ्का होती है। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी तथा श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि—'महाप्रलयमें भुशुण्डिजी और मार्कण्डेयजी सशरीर परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं। भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, अन्धकार, मूलप्रकृतिका दस-दस गुणा अधिक विस्तार होता है। इन सप्तावरणोंको भेदकर मुक्त जीव मायापार परधामको चले जाते हैं। विशेष *'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही।'* (८८। १) में देखिये।

टिप्पणी—१ (क) *'रहे ब्यापि समस्त जग माहीं',* यथा—*'ब्यापि रह्यो संसार महुँ माया कटक प्रचंड।'* (७१) (ख) *'तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं'* क्योंकि लोमशजीका आशीर्वाद है कि जिस आश्रममें बसकर तुम श्रीरामजीका भजन करोगे वहाँपर एक योजनपर्यन्त माया न व्यापेगी। यथा—*'जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत। ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक परजंत॥'* (११३) *'कबहुँ नहिं जाहीं'* से सूचित किया कि जो लोग वहाँ वास करते हैं, उनके भी हृदयमें विकार नहीं उत्पन्न होता। कलियुगमें भी नहीं। अतः वहाँ भजन खूब होता है। आगे भजनकी विधि बताते हैं। (ग) *'सुनु उमा सहित अनुरागा'* इति। प्रथम मन लगाकर सुननेको कहा था, यथा—*'सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ',* और सब अनुरागसहित सुननेको कहा। इस प्रकार सूचित किया कि कथामें मन लगाना चाहिये और उसे प्रेमसे सुनना चाहिये। [रा० प्र० कार *'सहित अनुराग'* का *'भजै'* के साथ अन्वय करते हैं। २—*'गिरि सुमेरु उत्तर·········।'* (५६। ७) से *'तेहि गिरि·········'* तक नीलगिरिका वर्णन हुआ। रा० शं० श० का मत है कि 'तासु'=भुशुण्डि और उनके स्थानका।]

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप जग्य पाकरि तर करई॥ ५॥
आँब छाँह कर मानस पूजा। तजि हरिभजनु काजु नहिं दूजा॥ ६॥
बर तर कह हरिकथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥ ७॥

अर्थ—वे पीपलवृक्षके नीचे (अपने इष्ट बालरूप श्रीरामका) ध्यान धरते हैं। पाकरके नीचे जपयज्ञ करते हैं॥ ५॥ आमकी छायामें मानसी पूजा करते हैं। हरिभजन छोड़ दूसरा काम नहीं है॥ ६॥ बरगदके तले भगवान्‌की कथाका प्रसंग कहते हैं। वहाँ अनेक पक्षी आते और सुनते हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'ध्यान सो धरई।'* लोमशजीने बालकरूप रामका ध्यान बताया था; उसीका ध्यान करते हैं। यथा—*'बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥'* 'जाप यज्ञ' जपयज्ञ। जपयज्ञ करते हैं क्योंकि यज्ञोंमें जपयज्ञ भगवान्‌का स्वरूप है, यथा—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।** (गीता १०। २५) [पं० रा० व० श०—'यज्ञ' पद देकर जनाया कि विधानपूर्वक करन्यास, ऋषिन्यासादि करके जप करते हैं।]

२ नीलगिरिके चार शृङ्गोंपर चार वृक्ष कहे हैं—वट, पीपल, पाकर और आम।—*'तिन्ह कर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥'* अब इन चारोंको गिनानेका प्रयोजन कहते हैं कि पीपलतले ध्यान धरते हैं इत्यादि।

३ (क) ☞यहाँ दिनके चारों प्रहरोंका सम्बन्ध है। प्रथम प्रहरमें ध्यान धरते हैं, दूसरेमें जपयज्ञ करते हैं, तीसरेमें मानसपूजा और चौथेमें कथा होती है। पुनः, (ख)—यहाँ चारों युगोंका भी सम्बन्ध है। सत्ययुगका धर्म ध्यान है, इसे पीपलतले करते हैं। त्रेताका धर्म यज्ञ है, इसे पाकरतले करते हैं। द्वापरका धर्म पूजा है। इस धर्म-(मानसपूजा-) को आमतले करते हैं। और कलियुगका धर्म है—हरिगुणगान; इसे वटतले करते हैं। चारों युगोंके धर्मोंका प्रमाण, यथा—*'ध्यान प्रथम जुग मखबिधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभुपूजे॥ कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥'*, **'कृते यद्ध्यायते विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥'**

नोट—१ किसी वृक्षविशेषके नीचे कोई विशेष साधन करनेके भाव ये कहे जाते हैं-(१) वृक्षोंमें पीपल भगवान्‌का ही स्वरूप है, यह भगवान्‌ने गीतामें स्वयं ही कहा है। यथा—**'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां""विद्धि""।'** (१०। २६, २७) अर्थात् सब वृक्षोंमें पीपल मुझको जान। अतः उसके नीचे श्रीरामजीके रूपका ध्यान करते हैं। (पं० रा० कु०, पं०)। वा, पीपलका वृक्ष सत्ययुगका रूप है और सत्ययुगका धर्म ध्यान है; अतः पिछली एक पहर रात्रिसे लेकर दो दण्ड दिन चढ़ेतक सत्ययुगका अंश जानकर सत्ययुग वृत्तिप्रधान समझकर उसके नीचे ध्यान करते हैं। (वै०)। (२) पाकर ब्रह्माका रूप है, ये कर्मकाण्डी हैं। अतः इसके आश्रयसे जप करते हैं। (पं० रा० कु०)। पुनः भाव कि पाकर राजवृक्ष कहा गया है। यज्ञका सम्बन्ध राजाओंसे है। और जप यज्ञ है। अतः जपयज्ञ पाकरके नीचे करते हैं। (पं०)। वा पाकरका वृक्ष त्रेतायुगका रूप है अतः उसके नीचे त्रेतायुगका धर्म करते हैं। दो दण्ड दिन चढ़ेसे दोपहरमें दो दण्ड शेष रहेतक त्रेताका अंश जान त्रेतावृत्ति प्रधान समझ उसमें जपयज्ञ करते हैं। (वै०)। आम कामदेवका वृक्ष है। कामदेव अति सुन्दर है। यथा—*'कामसे रूपक""।'* (७। ४३) उसके आश्रयसे मानसी पूजन करते हैं। मानसी पूजनमें शृङ्गार किया जाता है और शृङ्गारसे शोभा होती है। इसीसे कामके वृक्षके आश्रयसे शृङ्गार करते हैं जिसमें अत्यन्त शोभा दृष्टिगोचर हो। (पं० रा० कु०)। पुनः, आमका नाम रसाल है। यह रसीला फलयुक्त वृक्ष है। उपासनामें (फलका) नैवेद्य लगाया जाता है। अतः मानसी पूजा यहाँ करते हैं। (पं०)। वट शिवरूप है, यथा—*'मरकत बरन परन फल मानिक से, लसै जटाजूट जनु रूख बेष हरु है।'* (क० ७। १३९) *'प्राकृतहू बट बूट बसत पुरारि हैं।'* (क० ७। १४०) तथा वट शिवजीका विश्रामस्थान है। यथा—*'शिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया।'* (१। १०६। ३) और श्रीशिवजी रामचरितमानसके आचार्य तथा भुशुण्डिजीके गुरु हैं। यथा—*'रचि महेस निज मानस राखा'*, *'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा॥'*, *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी*

चीन्हा॥' (१। ३५, १। ३०) इसीसे वटके नीचे रामचरित कहते हैं। (पं० रा० कु०)। बैजनाथजीका मत है कि आमका वृक्ष द्वापररूप है और वट कलियुगका रूप है। अतः द्वापरका धर्म आमके नीचे और कलियुगका धर्म वटतले करते हैं! चारों वृक्ष क्रमशः चारों युगोंके रूप हैं, इसका कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। पर पं० श्रीकान्तशरणजीने इसके भावकी पूर्ति इस प्रकार की है—'सत्ययुगकी वृत्तिमें चित्तकी प्रधानता रहती है, चित्तके देवता वासुदेव हैं। अतः चित्त ही पीपलरूप है। त्रेताकी वृत्तिमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है, बुद्धिके देवता ब्रह्मा हैं, वे ही ऊपर पाकररूप कहे गये हैं। ध्यान चित्तप्राधान्यमें और जप बुद्धिके प्राधान्यमें होता भी है। पूजा शरीर एवं इन्द्रियोंसे होती है, इनमें अहंकारकी प्रधानता है, इसमें द्वापर वृत्तिकी प्रधानता रहती है। यह आमरूप है। आम कामदेवरूप कहा गया है, कामसे सृष्टि होती है, वैसे अहंकारसे भी सृष्टि होती है। मानसी पूजामें भी संकल्पोंसे सृष्टिके समान पदार्थोंकी उत्पत्ति करके पूजा की जाती है। कलिकी वृत्तिमें मनकी प्रधानता रहती है। मनके देवता चन्द्रमा हैं जो श्रीशिवजीके आश्रित हैं, इससे इसे शिवरूप वट कहा गया है। इस अवस्थामें कथा एवं नाम-कीर्तन ही उपाय है।'

नोट—२ *'द्वापर परितोषन प्रभु पूजे'* यह द्वापरका धर्म बताया गया है। और यहाँ मानस पूजा करना कहते हैं। त्रिपाठीजीका मत है कि पूजाका अधिकार न होनेसे आमतले मानसपूजा करते हैं। इसी तरह जपयज्ञके सम्बन्धमें कहा जाता है कि चाण्डाल पक्षीका शरीर होनेसे वे द्रव्ययज्ञमें अपना अधिकार नहीं मानते। मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यह आता है कि जपयज्ञ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, इसे भगवान् अपना स्वरूप मानते हैं। यथा—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'** (गीता। १०। २५) दूसरे अन्य सब यज्ञ प्रायः राजसी हैं। इसी तरह 'मानस पूजा' द्रव्योपार्जित पूजासे श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं विरक्तोंके लिये यही विधान सर्वश्रेष्ठ है।

रा० प्र०, रा० प०—'१ पीपर ज्ञानतरु है। जैसे ज्ञान होनेपर सब नश्वर जनाता है वैसे ही पीपर अन्य पेड़ोंको नाश करके स्वयं रह जाता है, पक्षी इसे पचा नहीं सकते। 'पाकर कर्मरूप ब्रह्मा दैवत कर्म जिसमें विधिनिषेध सदसदादि रजोगुणी ब्रह्मारीति मिलित हैं। कर्म अंकुरित होकर ब्रह्मसृष्टिरीतिसे पुष्पित और फलित होते हैं। रसाल भक्तिरूप है। ज्ञानादि नीरस हैं वट शिवरूप है। २—*'काज नहिं दूजा'*—संसारी भावनाका सावकाश ही नहीं।'

टिप्पणी—३ भुशुण्डिजी इस प्रकार ध्यानादि क्यों करते हैं? कारण कि भुशुण्डिजी चिरजीवी हैं। उनके युगोंकी चौकड़ियाँ एक दिनके समान बीत जाती हैं, इसीसे वे चारों पहर चारों युगोंकी रीतिके अनुसार व्यतीत करते हैं। युगोंके क्रमानुसार ध्यान, यज्ञ, पूजन और कथाका क्रमसे करना कहा। (पं० रा० कु०) [या यह कह सकते हैं कि यहाँ श्रीभुशुण्डिजीकी दिनचर्या कहते हैं। वे चिरजीवी हैं। उनका नाश कल्पान्तमें भी नहीं होता। अतः उनका एक दिन एक चतुर्युगीका होता है। हमारा एक युग उनका एक पहर है, इस तरह सतयुग उनका प्रथम पहर है, इत्यादि जैसे हमारा एक कल्प ब्रह्माका एक दिन है और मन्वन्तर स्थायी देवताओंका दिन एक वर्षका होता है। इत्यादि]।

नोट—३ प्रभुने भक्ति आदिका वरदान देकर कहा था कि—*'काय बचन मन मम पद करेसि अचल अनुराग'* तीनों प्रकारसे भुशुण्डिजी अनुराग करते हैं यह यहाँ दिखाया है-ध्यान और मानसपूजा, मनकी भक्ति, जपयज्ञ, शरीरकी भक्ति और चरित्रवर्णन यह वचनकी भक्ति हुई। चार प्रहरमें चार प्रकारका कर्म करते हैं, इसमें यह शङ्का होती है कि शेष चार प्रहर रात्रिके कैसे बीतते हैं? इसका समाधान मेरी समझमें यह है कि वहाँ काल नहीं व्यापता, अतः वहाँ रात्रि भी नहीं होती, भुशुण्डिजी निरन्तर भजनमें लगे रहते हैं।

वै०—*'जाप यज्ञ।'* अर्थात् बाह्येन्द्रियोंकी वृत्ति खींच, शुद्ध मन लगा, प्रत्यक्षरका चिंतवन करते षडक्षर राममन्त्र जपते हैं। **'मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्ये स्थितो मनः। मनोमन्त्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥'** [यज्ञमें जल, काष्ठाग्नि, घृत और साकल्यादि चाहिये, जपयज्ञमें वे ये] हैं—*'महामंत्र जपिये सोइ जो जपत महेस॥ प्रेमबारि तर्पन भलो घृत सहज सनेह। संसय समिधि अगिन क्षमा ममता बलि देहु॥'*—(वि० पद १०८)।

[मानसपूजाका विधान अगस्त्यसंहितामें विस्तारसे है]

'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा' इस कथनका भाव यह है कि ध्यान, जप और पूजा इस प्रथम तीन कामोंसे करनेवालेहीको सुख होता है और कथामें वक्ता और श्रोता दोनोंको सुख मिलता है। इसीसे कथाके समय अनेक पक्षी आते हैं।*

रामचरित बिचित्र बिधि नाना†। प्रेम सहित कर सादर गाना॥ ८॥

सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥ ९॥

जब मैं जाइ सो कौतुक देखा। उर उपजा आनंद बिसेषा॥ १०॥

अर्थ—(श्रीकागभुशुण्डिजी) अनेक प्रकारके विलक्षण रामचरित्र प्रेमसहित आदरसे गान करते हैं॥ ८॥ सब निर्मल बुद्धिवाले हंस सुनते हैं जो सदैव उस तालाबपर बसते हैं (अर्थात् ये सब नियमसे सुननेवाले श्रोता हैं)॥ ९॥ जब मैंने जाकर यह तमाशा देखा तब हृदयमें विशेष आनन्द उत्पन्न हुआ॥ १०॥

वै०—१ नाम-रूप-लीला-धामका वर्णन चरित है। जिसमें एक रसके अन्तर्गत अनेक रसोंका वर्णन हो वह विचित्र रीतिका वर्णन है। २—अनेक प्रकारसे अनेक अवतार, उनके अनेक कारण पृथक्-पृथक् कल्पमें पृथक्-पृथक् रीतिके चरित इत्यादि विचित्रता है।

टिप्पणी—१ *'मति बिमल मराला'* इति। वहाँ मायाका परिवार नहीं जाता इससे इनकी बुद्धि निर्मल रहती है। दूसरे ये निरन्तर कथा सुनते हैं यह भी बुद्धिसे निर्मल होनेका कारण है। [*'सकल मति बिमल'* का भाव कोई-कोई यह कहते हैं कि साधारण हंसोंको गुणावगुण पृथक् करनेका सामर्थ्य नहीं है पर इन सबमें यह गुण है, ये सब कामादिरहित निर्मल बुद्धि हैं। २—*'मति बिमल मराला'* से दिखाया कि जैसे ज्ञानरत वक्ता वैसे ही विमल मति श्रोता। दोनों अपने-अपने काममें चौकस *'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि'*] २—*'सो कौतुक देखा'* इति। (क)—कौतुक यह कि पक्षी वक्ता है और पक्षी श्रोता, पक्षी जापक, पक्षी पुजारी और पक्षी ध्यानी। (ख) इस कौतुकका सम्बन्ध *'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी।'* (५५। ७) से *'बसहिं निरंतर जे तेहि ताला'* तक है। वहाँसे यहाँतक शिवजीने कौतुक देखा जैसा कि स्वयं कहते हैं—*'जब मैं जाइ सो कौतुक देखा।………।'* (ग) *'उर उपजा आनंद बिसेषा।'* भाव कि तुम्हारे वियोग-दुःखसे मैं विशेष दुखी था, यथा—*'सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा॥'* नीलगिरिका कौतुक देखनेसे जो विशेष आनन्द हुआ उससे वह वियोग-दुःख हृदयसे जाता रहा।

पं०—विशेष आनन्दस्थानकी सुन्दर रचना, भुशुण्डिजीके व्यवहारकी उत्तम रीति, पक्षियोंका विवेकी समाज देखकर वा भुशुण्डिका मत सब भाँति अपनेसे मिलता देखनेसे हुआ।

पां०—विशेष आनन्दका कारण कि वहाँ अविद्या माया नहीं जा सकती थी, अतः तुम्हारे वियोगकी माया जाती रही।

वै०—*'विशेष आनंद'* का भाव कि पर्वतशिखर देखते ही तथा पर्वतपर जाते ही वियोग-दुःख दूर हो गया तब आनन्द हुआ और यह समाज, आश्रम और विचित्र विधिकी कथा इत्यादि कौतुकसे विशेष आनन्द हुआ।

दो०—तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आएउँ कैलास॥५७॥

गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गएउँ खगपासा॥ १॥

अर्थ—(जब वहाँकी शोभा देखकर मेरे हृदयमें विशेष आनन्द हुआ) तब मैंने कुछ कालतक हंसशरीर

* रा० शं०—'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा' ये बाहरके अन्य प्रकारके पक्षी हैं, आगे तालके बसनेवालोंका आना नहीं कहेंगे-'सुनहिं सकल मति बिमल मराला।'

† रामचरित्र बिचित्र बिधाना—(ना० प्र०)।

धारणकर वहाँ निवास किया और श्रीरघुनाथजीके गुण आदरसहित सुनकर फिर कैलाशको लौट आया। (अर्थात् मेरा मन शान्त हो गया फिर मैं कहीं नहीं गया)॥ ५७॥ हे गिरिजे! मैंने वह सब इतिहास कहा कि जिस समय मैं भुशुण्डिजीके पास गया॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'कछु काल'* का भाव कि विशेष सुख कुछ कालतक सुननेसे ही प्राप्त होता है। [पुनः, भाव कि एक आवृत्ति रामायण सुनी। जब रामायण समाप्त हुई तब चला आया। (खर्रा) पहले सब स्थानोंको देखते फिरते थे, कहीं टिकते नहीं थे। यह जगह *'अति भाई'* इससे टिक गये थे। जैसे नारदजी टिक गये थे।—*'हिम गिरि गुहा एक अतिपावन''''''''''आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥''''''''''।'* (रा० शं० श०)] (ख) *'मराल तनु धरि'* इति। वहाँ हंसोंका ही समाज था, अतः हंसतन धारण किया जिसमें रसभंग न हो। दूसरे, यदि अपने रूपसे जाते तो उसे संकोच होता, वह यथार्थरूपसे कथा न कहता। कारण कि शिवजी ही तो प्रधान आचार्य मानसकथाके हैं, इन्हींसे लोमशजीने पाया और लोमशजीसे भुशुण्डिजीने पाया। अतः गुरुके भी गुरुके सामने कैसे कहते?-[श्रीसीता-स्वयंवरमें भी इसी कारण देव, दैत्य, असुरादि मनुष्य राजाके वेषसे गये थे और विश्वमोहिनीके स्वयंवरमें भगवान् भी राजारूपसे गये थे। तथा शुकसारन वानरसमाजमें वानररूपसे गये थे कि कोई पहचान न ले जिससे रसभंग हो।—*'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥' 'रहे असुर छल छोनिपबेषा', 'धरि नृप तनु तहँ गएउ कृपाला।'* (बा० २५१, २४१, १३५), *'सकल चरित तिन्ह देखे धरे कपट कपिदेह'* (सुं० ५१)। (ग) *'सादर सुनि'* का भाव कि भुशुण्डिजी आदरसे रामगुणगान करते हैं, यथा—*'प्रेम सहित कर सादर गाना।'*; इसीसे मैंने भी सादर सुना। तात्पर्य कि रामचरित ऐसा ही आदर करने योग्य है।—[रामचरित सादर कहने-सुननेकी मर्यादा है, रीति है। यथा—*'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'* (१। ३५। १३) *'तात सुनहु सादर मनु लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥'* (१। ४७। ५) *'मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु।'* (१। १२०) *'रामकथा सो कहइ निरंतर। सादर सुनहिं बिबिध बिहंग बर॥'* (६२। ४) विशेष भाव १। ३५। १३; १। ४७, १। १२० में देखिये। शिवजीने जैसे सादर सुननेको कहा, वैसे ही सादर सुनते भी हैं] (घ) *'पुनि आएउँ कैलास।'* भाव कि प्रथम तुम्हारे वियोगसे हमारा कैलाशवास छूट गया था; श्रीरामचरित सुननेसे दुःख छूटा; इसीसे पुनः कैलाश-वास हुआ।

नोट—१ ☞श्रीपार्वतीजीके *'तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥'* इस प्रश्नका उत्तर यहाँ समाप्त हुआ। २—*'जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा।'* (१। ७५। ८) जो बालकाण्डमें कविने कहा था उस *'जहँ तहँ'* मेंसे एक स्थान यह है। ३—यहाँतक भुशुण्डिजीके पास अपने जानेका हेतु कहा, आगे गरुड़के वहाँ जानेका हेतु कहते हैं।

'तेहि केहि हेतु काग सन जाई' 'सुनी कथा'

(इस दूसरे प्रश्नका उत्तर)

अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गएउ काग पहिं खगकुलकेतू॥ २॥
जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा॥ ३॥

अर्थ—अब वह कथा सुनो जिस कारण पक्षिकुलके ध्वजस्वरूप गरुड़जी श्रीकागभुशुण्डिजीके पास गये॥ २॥ जब श्रीरघुनाथजीने रणलीला की, प्रभुका वह चरित समझकर मुझे लज्जा लगती है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) अब पार्वतीजीके *'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी।''''''''''तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई॥'* इस प्रश्नका उत्तर देते हैं। (ख) *'गएउ काग पहिं खगकुलकेतू'* यहाँ काग अर्थात् पक्षियोंमें चाण्डालरूप श्रीभुशुण्डिजीकी न्यूनता और *'खगकुलकेतू'* कहकर श्रीगरुड़जीकी बड़ाई की। [गरुड़जीको *'खगकुलकेतू'* कहा क्योंकि केतु (ध्वजा) से स्थान प्रकट होता है वैसे ही गरुड़जीके कारण पक्षियोंका जगत्‌में सम्मान होता है (कि देखो पक्षी ही भगवान् विष्णुका वाहन है)। (पं०) पुनः

खगकुलकेतु=पक्षिकुलमें जो भगवान्‌के केतु हुए। इसीसे भगवान्‌को गरुड़ध्वज कहते हैं। (रा० प्र०)] *'जेहि हेतू'* कहकर फिर इस चरणसे कारण बताते हैं कि किसी कारणसे बड़ा भी छोटेके यहाँ जाता है, जिस कारणसे गये वह आगे कहूँगा।

२ *'जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा'* इति। (क) 'रघुनाथ' का भाव कि ये रघुवंशके नाथ हैं अर्थात् मनुष्य-कुल (में इनका) अवतार है। जैसा राक्षसोंके साथ युद्ध करनेसे मनुष्योंकी दशा होती है वैसे ही दशा इनकी हुई। (ख) *'रन क्रीड़ा'* का भाव कि रणकी शोभाके लिये स्वयं नागपाशमें बँधे, यथा—*'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो।'* (६। ७२। १३) रणकी शोभा तभी होती है जब बराबरके वीरोंका युद्ध हो।—☞ [इसी तरह अपने साथ भगवान्‌को लड़कोंकी-सी क्रीड़ा करते जो देखा था उसका वर्णन करनेमें भुशुण्डिजीको लज्जा लगती थी। यथा—*'मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥'* (७७। ९) क्रीड़ा देखकर उनको मोह हो गया था कि *'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह।'* (७७) शिवजीको मोह नहीं हुआ पर समझनेपर व्रीड़ा अवश्य होती है। लज्जाका कारण आगे कहते हैं कि *'इंद्रजीत कर आपु बँधायो'*, इससे स्वामीकी न्यूनता होती है।]

वि० त्रि०—'रघुनाथ' ही रणक्रीड़ामें समर्थ हैं, नहीं तो जहाँ प्राणका लेना-देना चल रहा है, वहाँ क्रीड़ा किसे सूझती है। जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा तो सुनी जाती है; पर रणक्रीड़ा तो कहीं सुनी नहीं जाती। काल-का-काल ही रणक्रीड़ामें समर्थ है। इसीलिये गरुड़को मोह हुआ कि रणभूमि तो पराक्रम दिखानेके लिये है, क्रीड़ा यहाँ नहीं हो सकती, असमर्थ होनेके अतिरिक्त बन्धनका दूसरा कारण नहीं हो सकता। पर रघुनाथजीके स्वरूपके जानकार शिवजीको स्मरण करनेसे व्रीड़ा हो रही है कि इस प्रकारका अभिनय भी सरकारके स्वरूपके नितान्त विरुद्ध है। पर अभिनय करनेवालेको व्रीड़ा नहीं हुई। उसे व्रीड़ा हो तो वह अभिनय क्या करेगा! इसी भाँति 'मैं कहाँ रहूँ' इस प्रश्नको सुनकर वाल्मीकिजीको संकोच हुआ, यथा—*'पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ मैं पूछत सकुचाउँ। जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावउँ ठाउँ॥'* परंतु सरकारने संकोच नहीं किया।

वै०—*'होत मोहि ब्रीड़ा।'* कारण कि जिसकी महिमा वेद नहीं जानते वह तुच्छ निशाचरके हाथ बँधे, यह सुनकर हमारा ऐश्वर्य कथन कौन मानेगा? जानकीस्तवराजका हमारा परिश्रम लोग व्यर्थ मानेंगे।

इंद्रजीत कर आपु बँधायो। तब नारद मुनि गरुड़ पठायो॥ ४॥
बंधन काटि गयेउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा॥ ५॥
प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग आराती॥ ६॥

अर्थ—इन्द्रजित् (मेघनाद) के हाथों जब (प्रभुने) अपनेको बँधाया तब नारद मुनिने (जाकर) गरुड़को भेजा॥ ४॥ सर्पके भक्षक गरुड़ नागपाश काटकर गये तब उनके हृदयमें प्रबल दुःख उत्पन्न हुआ॥ ५॥ सर्पोंके शत्रु गरुड़जी प्रभुका (वस्तुतः) बन्धन समझकर बहुत प्रकार विचार करते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'इन्द्रजीत कर आपु बँधायो'* इति। (क) *'इन्द्रजीत'* कहनेका भाव कि जब मेघनादने दलसहित श्रीरामजीको बाँध लिया तब बड़ाई सूचित करनेवाला उसका प्रशंसायुक्त नाम देकर जनाते हैं कि उसने देवताओंके राजा इन्द्रको भी जीत लिया है; इससे उसके हाथों बँधकर श्रीरामजीने भी उसकी बड़ाई रखी। (ख) *'आपु बँधायो'* का भाव कि उस राक्षसकी सामर्थ्य न थी कि इनको बाँध लेता, वे तो स्वयं बँधे। *'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो।'* (६। ७२। १३) देखिये। [*'इंद्रजीत कर आपु बँधायो।'* भाव कि निर्बलके हाथ अपनेको बँधाते तो संदेह न होता, बलीके हाथ बँधे इसलिये नरनाट्य लोगोंको सच्चा ही दीखता है। (वै०)] (ग) *'तब नारद मुनि गरुड़ पठायो'* इति। *'तब'* अर्थात् प्रभुने अपनेको स्वयं बँधाया तब नारदमुनिने विचार किया कि जब ये अपनी ही इच्छासे बँधे हैं तब ये अपनी ही ओरसे अब न छूटेंगे। क्योंकि उससे नरनाट्यकी शोभा जाती रहेगी। दूसरे, मेघनादके रहते यदि गरुड़ वहाँ जाते तो युद्ध होता। इसीसे जब जाम्बवान्‌ने मेघनादको लंकामें फेंक दिया तब नारदजीने गरुड़को भेजा।

२ (क) *'बंधन काटि गएउ उरगादा'* इति। *'उरगादा'* कहकर सूचित किया कि जिन नागोंसे रघुनाथजी बँधे हुए थे उनको गरुड़ने खा लिया, यथा—*'पन्नगारि खाए सकल छन महुँ ब्यालबरूथ।'* (भा० दा० की पोथीमें *'खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।'* (लं० ७३) यह पाठ है) उरगादा=सर्पको भक्षण करनेवाला। (ख) *'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा'* इति। भाव कि उन्होंने अनेक सर्प खाये, विषका दुःख उनको न हुआ, विष पच गया; पर रामजीको बन्धनमें देख बड़ा दुःख हुआ। इसका निवारण वे न कर सके। तात्पर्य कि सर्पोंके विषसे भ्रमका दुःख विशेष होता है। [पं०—*'प्रचंड बिषादा।'* महत्पुरुषोंको तथा महानुभावोंके विषयमें होनेसे, अथवा साधारण यत्नसे न छूट सकनेके कारण इसे प्रचण्ड कहा।]

३ (क) *'प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती'* इति। भाव कि जिनका दास सर्पोंको खा लेता है वे स्वामी स्वयं सर्पोंसे बँध जायँ यह कैसे सम्भव है, ऐसा न होना चाहिये। (ख) *'बहु भाँती'*—आगे कवि स्वयं लिखते हैं। (ग) *'उरग आराती'* का भाव कि यह तामसी आहार करनेवाला है इसीसे संदेहमें पड़ा। (पं०)]

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा*॥ ७॥

सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥ ८॥

अर्थ—जो सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म है, माया आदि विकारोंसे रहित है, वाणीपति है, माया-मोहसे परे और परमेश्वर है, उसका अवतार जगत्‌में मैंने सुना था। पर उस (ब्रह्म) का कुछ भी प्रभाव न देखा। (अर्थात् बन्धनमें उनको बेबस पड़ा हुआ देखा)॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ *'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा।………'* इति। (क) व्यापक अर्थात् विश्व व्याप्य है उसमें श्रीरामजी सूक्ष्म रूपसे व्यापक हैं, (यथा—**'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।** ईश० १।'), जैसे तिलोंमें तेल, दूधमें घी, काष्ठमें अग्नि और फूलमें सुगन्ध इत्यादि। जो ऐसा है वह कैसे बाँधा जा सकता है। *'सो कि बंधतर आवै ब्यापक बिस्वनिवास।'* लं० दोहा ७२ देखिये। (ख) ब्रह्म है अर्थात् उसके रोम-रोममें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं। विरज अर्थात् उसमें मायाका स्पर्श नहीं होता तब मायाके नागोंसे उसका फँसना कैसे सम्भव है? ये सब सर्प मायाके थे, यथा—*'खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।'* लं० ७३। (ग) *'बागीसा'*=सरस्वतीके स्वामी, यथा—*'सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥'* (१। १०५। ५) [**'वागीशः वाक्पतिर्द्वे अनवद्योद्दामवादिनि वाचोयुक्तिपटुः'** इति। (अमर विवेक) अर्थात् युक्तिसे वचन कहनेमें परम चतुर। (वै०) यह शब्द पूर्व कई बार आ चुका है।]

वै०—*'माया मोह पार'* इति। जीवको ईश्वरसे विमुख करके इन्द्रियोंके विषयसुखमें लगा देती है यह 'माया' का कार्य है। काम-क्रोधादि वश करके जीवके ज्ञानको नष्ट करना मोहका कार्य है।

शीला—व्यापकादिके भाव। व्यापक हैं तब अचेत कैसे हुए? ब्रह्म प्रकाशमान हैं, ये ब्रह्म हैं तो प्रकाशरहित कैसे हैं? ईश्वर विरज हैं तब ये राजसगुण बन्धनयुक्त कैसे हुए? वागीश हैं तो इनके मुखसे वाणी क्यों नहीं निकलती? मायामोह पार हैं तब आसुरी मायाके वश कैसे हुए? ये ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं तब यह भी सम्भव नहीं कि असुरोंके इष्टके वश करनेसे वशीभूत हो गये।

करु०—*'सो अवतार सुनेउँ।'* किससे सुना? महर्षियों तथा नारदजीसे सुना कि परब्रह्म परमात्मा हैं।

रा० शं०—*'सो अवतार सुनेउँ'*, यथा—*'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (१। ५१)

* गौड़जी—इस जगह 'बागीस' का अन्त्यानुप्रास मिलानेके लिये 'परमेस' की जगह 'परमीस' कर दिया है। 'परमेस' अधिक शुद्ध होता परंतु 'बागीस' से तुक न मिलता। इसी तरह 'वेद' और 'विनोद' का तुक न मिलते हुए भी एक दोहेमें अन्त्यानुप्रासमें ये दोनों शब्द आये हैं। उस स्थलमें न 'वेद' को 'वोद' किया जा सकता था और न विनोदका 'विनेद'। इसलिये वहाँ अन्त्यानुप्रासके नियमका भंग किया गया है। परंतु यहाँ 'परमेस' की जगह परमीस 'ग्रामभाषामें, जिसमें मानस लिखा गया है, कोई भारी अशुद्धि नहीं समझी जायगी। जब हिंदीमें 'जगतेस उपनाम' क्षम्य है तो परमीस अशुद्ध नहीं समझा जा सकता।

वै०—*'अवतार सुनेउँ'* का भाव कि ताड़का-सुबाहुवध, अहल्योद्धार, दण्डकवनकी पावनता, खरदूषणादिका वध, शबरी-गृध्रकी गति आदि जगत्‌में प्रसिद्ध हैं उन्हें मैंने सुना पर अपनी आँखों देखा तो कुछ प्रभाव न देख पड़ा।

दो०—भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥ ५८॥

अर्थ—मनुष्य जिसका नाम जपकर भवपाशसे छूट जाते हैं, उन्हीं रामको तुच्छ राक्षसने नागपाशसे बाँध लिया॥ ५८॥

टिप्पणी—१ (क) तात्पर्य यह कि जिसका नाम भवबन्धन काटता है (यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'* (१। २५। ४), *'भव भय भंजन नाम प्रतापू।'* (१। २४। ६), *'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं।'* (लं० मं० सो०) वह ईश्वर स्वरूपसे भवबन्धनमें कैसे पड़ेगा? (ख) *'खर्ब निसाचर'* कहनेका भाव कि प्रभु तो बड़े-बड़े बलवान् दैत्योंके नाश करनेवाले हैं, उनको छोटा निशिचर कैसे बाँध सकेगा? तुच्छ निशिचरने बाँध लिया तो वह बड़ाई कहाँ रह गयी? (खर्रा)। [*'खर्ब'* अर्थात् तुच्छ इससे कि राक्षसजाति ही तुच्छ है, अथवा यह रावणके अगणित बेटोंमेंसे एक है, अतः क्षुद्र कहा, अथवा इससे कि कपि (हनुमान्) और जाम्बवंतने इसे मंगाया और मूर्छित किया था तब प्रभुके सामने यह क्या है? (पं०)] (ग) *'बाधेउँ नागपास'* इति।—भाव कि जिसका सेवक नागोंका भक्षण करनेवाला है वह स्वामी नागपाशमें कैसे पड़े? (पं०)। (घ) *'सोइ राम'* अर्थात् जो व्यापक, ब्रह्म, विरज, वागीश, माया-मोहपार, परम ईश हैं और जिनके जपसे भवबन्धन कट जाता है वे ही राम अन्य नहीं।—[ऐसा ही सुं० २० (३-४) में हनुमान्‌जीके बन्धनपर कहा है—*'जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भवबन्धन काटहिं नर ज्ञानी॥ तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥'*]

नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥ १॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भएउ मोहबस तुम्हरिहि नाई॥ २॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे (गरुड़जीने) अपने मनको समझाया पर ज्ञान न हुआ (वरन्) हृदयमें भ्रम छा गया॥ १॥ संदेहके दुःखसे दुःखी और उदास एवं क्षीण होकर मनमें तर्क बढ़ाकर तुम्हारी ही तरह वे मोहके वश हो गये (कि ईश्वर होते तो राक्षसके बन्धनमें कैसे आते?)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'नाना भाँति'* का समझाना ऊपर लिख आये हैं। ☞यहाँतक सात बातोंसे मनको समझाया—व्यापक हैं, ब्रह्म हैं, विरज हैं, वागीश हैं, मायापार हैं, मोहपार हैं और परम ईश हैं। ऐसेको बन्धन न होना चाहिये। इससे यह श्रीरामजीका बन्धन नहीं है, उनकी लीला है, इस तरह अनेक प्रकारसे मनको समझाया। [ईश्वरोंकी अगाध गति है, उनपर संदेह करना योग्य नहीं, इत्यादि *'नाना भाँति'* है। (पं०)] (ख) *'प्रगट न ज्ञान'* अर्थात् यथार्थ ज्ञान न प्रकट हुआ। अयथार्थक ज्ञान प्रकट हुआ, अयथार्थक ज्ञान तीन प्रकारका है—संशय, तर्क और विपर्यय। यहाँ तर्कात्मक ज्ञान झूठा प्रकट हुआ। जैसे—**'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः'** अर्थात् जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धुआँ है। पर बिना धुएँके भी अग्नि देखनेमें आती है। क्या बिना धुएँवाली अग्नि अग्नि नहीं कही जाती? ऐसे ही यदि ईश्वर अपना प्रभाव न दिखाएँ तो क्या वे ईश्वर नहीं हैं? प्रभावका दिखाना ईश्वरके अधीन है। [मिलान कीजिये—*'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (१। ५१। ४) *'प्रगट न ज्ञान'* का भाव कि ज्ञान हृदयमें है पर भ्रमरूपी मेघसे आच्छादित हो जानेसे दिखायी नहीं देता। (पं० रा० व० श०) ज्ञान अपने समझानेसे नहीं प्रकट होता, सत्संगसे ही प्रकट होता है। यथा—*'बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥'* (४। १५) जब काकभुशुण्डिजीका सत्संग मिलेगा तब ज्ञान भी हो जायगा। (रा० शं० श०)]

वै०—*'खेद खिन्न'*-क्योंकि ईश्वररूपका निश्चय कहीं कर पाते और मनुष्य होना निश्चय करें तो विमुखता होती है।

पं० रा० व० श०—१ न तो प्राकृतहीमें बुद्धि जाती है क्योंकि महर्षियोंने कहा है व्यापक, अज ब्रह्म रघुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं तब उनको झूठा कैसे समझें, यथा—*'होइ न मृषा देवरिषि भाषा।'* और ईश्वर मायाबन्धनमें कैसे पड़ सकता है? इनमें अचिन्त्यसामर्थ्यवालेका-सा प्रभाव देख नहीं पड़ता, अतः ब्रह्म निश्चय नहीं कर सकते। २—*'तर्क बढ़ाई'* अर्थात् एक तर्क उठा वह ठीक न हुआ, उसपर दूसरा तर्क उठता फिर उसपर तीसरा, इत्यादि रीतिसे तर्क-पर-तर्क बढ़ता ही गया। [तर्क जैसे कि ईश्वर होते तो मायामृगपर भूलकर अपनी स्त्रीको क्यों खो बैठते इत्यादि। (पं०) पं० रा० कु० जीके भाव टिप्पणीमें आ गये हैं] ३—*'तुम्हरिहि नाईं'* अर्थात् तुम भी इसी तरह 'नर वा ब्रह्म' के भ्रममें पड़ी थीं, यथा—*'जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारिबिरह मति भोरि'* तथा *'संभु बचन पुनि मृषा न होई।'*

ब्याकुल गएउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥ ३॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया॥ ४॥
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥ ५॥

अर्थ—(मोहसे) व्याकुल होकर वह देवर्षि नादजीके पास गया और जो संशय अपने मनमें था उसे कहा॥ ३॥ सुनकर नारदजीको अत्यन्त दया लगी। (तरस आया)। वे बोल—हे गरुड़! सुनो। श्रीरामजीकी माया बड़ी ही बलवान् है। (अर्थात् इससे किसीका बल नहीं चलता)॥ ४॥ (कैसी प्रबल है, यह बताते हैं कि) जो ज्ञानियोंके चित्तको भली प्रकार हरण करके जबरदस्ती उनके मनमें विशेष मोह उत्पन्न कर देती है॥ ५॥

टिप्पणी—१ प्रथम नारदजीके पास जानेका कारण यह है कि इन्होंने उनको नागपाश काटनेके लिये भेजा था, जाकर उनसे कहेंगे कि आपने मुझे वहाँ भेजा था, वहाँ जानेसे मुझको मोह हुआ, अतः इस मोहको छुड़ाइये, हमारे सन्देहको दूर कीजिये। आपके ही योगसे वह संशय हुआ है, अतः आपहीसे उसका नाश होगा। (श्रीत्रिपाठीजीका मत है कि नारदजी गरुड़को नागपाश काटनेके लिये भेजकर गरुड़लोकमें ही ठहर गये थे कि बन्धन कटनेका समाचार सुन लें तब जायँ)। २—*'लागि अति दाया'* इति। नारदजी संत हैं, संत-स्वभावसे उनको दया लग आयी। इसी प्रकार उनको सर्वत्र दया लग आती है, यथा—*'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'* (३। २। ६) [दया लगनेके कारण—१ संत दयालु होते ही हैं। २ मैंने इसे नागपाश काटने भेजा था वहींसे इसे मोह हुआ। ३ जो कोई दुःख स्वयं भोग चुकता है वह दूसरेका वैसा ही दुःख देखता है तो उसे दया होती ही है। नारद मायावश मोहमें पड़ चुके ही थे। वह माया-बल स्मरण हो आनेसे इनपर दया आ गयी। (पं०)] [*'सुनु खग'*—मोहित हो गये हैं इससे तथा पूछने गये हैं इससे शिष्यभावसे *'खग'* सम्बोधन किया। (रा० प्र०) ३—*'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।'* नारद, सनकादिक आदि ज्ञानी मुनियोंका मोह मानसमें ही है। यथा—*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही॥'* (७०। ६) सनकादिकने क्रोधसे जय-विजयको शाप दे डाला इत्यादि। पुनः यथा मार्कण्डेयपुराणे—**'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥'**

[*'बरिआई'* का भाव कि उससे किसीका बस नहीं चलता। उससे शिवादि भी डरते हैं, प्रभुकी कृपासे ही उससे रक्षा होती है, नहीं तो चाहे कितना ही श्रुति-स्मृतिका प्रमाण देकर हृदयको समझावें, पर हृदयमें दृढ़ता न होकर मोह बढ़ता ही जाता है। यथा—*'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥'''''''''छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥'* (७१) *'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (१। ५१) *'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सती जेहि झूठ कहावा॥'* (१। ५६) इत्यादि]

वै०—गरुड़ विष्णुवाहन हैं, वे अपने स्वामीके पास क्यों न गये? कारण कि अज्ञानदशामें वैकुण्ठमें भगवान्‌के पास जाते संकोच हुआ कि वे क्या कहेंगे कि जिनके दर्शनसे पामर जीव भी ज्ञानी हो जाते हैं उनके दर्शनसे तुम विमुख हो गये!

जेहिं बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥ ६॥
महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे॥ ७॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा। सोइ करेहु जेहि होइ* निदेसा॥ ८॥

अर्थ—जिसने मुझे बहुत बार नचाया है। हे पक्षिराज! वही माया तुमको व्यापी है॥ ६॥ तुम्हारे हृदयमें महामोह उत्पन्न हुआ है। हे पक्षि! मेरे समझानेसे वह शीघ्र न मिटेगा॥ ७॥ हे पक्षिराज! आप चतुर्मुख (ब्रह्माजी) के पास जाइये और वही कीजिये जिसकी आज्ञा हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जेहिं बहु बार नचावा मोही'* इति। बहु बारमेंसे एक बारकी चर्चा बालकाण्डमें आ चुकी है कि कामको जीतनेका अभिमान हो गया था तब मायाने बंदरका मुख बनाकर नचाया। बंदर नचाया जाता ही है; इसीसे यहाँ *'नचावा'* शब्द लिखते हैं। (नचाना=दिक करना, यथा—*'घेरि सकल बहु नाच नचावहिं।'* (६। ५। ७)

२—*'मिटिहि न बेगि कहे'*.........' इति। भाव कि केवल मोह होता है तो समझानेसे शीघ्र छूट जाता है। परंतु महामोह शीघ्र नहीं छूटता और मुझे दक्षशाप है इससे मैं एक स्थानमें दो घड़ीसे अधिक ठहर नहीं सकता, इतनेमें तुम्हारा मोह न मिटेगा।

वि० त्रि०—'नारदजी कहते हैं कि मुझे भी मोह हुआ था। मोह विपरीत ज्ञानको कहते हैं। एक माया ऐसी है, जो ज्ञानियोंके चित्तको अपहरण करके बलपूर्वक विमोहके वश कर देती है, वह रामकी माया है, उसके सामने किसीका बल नहीं चलता, मेरा भी नहीं चला, मुझे उसने खूब नचाया। (यथा—*'माया बिबस भये मुनि मूढ़ा'*) तुम्हें तो वह व्याप गयी है, इसलिये तुम्हारे हृदयमें महामोह उत्पन्न हो गया है। मुझे रमापतिके प्रभु होनेमें सन्देह नहीं था, तुम्हें तो उनके प्रभु होनेमें संदेह हो गया है, और मैं स्वयं उस मायासे हार मान चुका हूँ। वह मेरे वशकी नहीं, और मैं एक स्थानपर देरतक ठहर भी नहीं सकता, अतः जो मुझसे बड़ा है, उसके पास जाइये।

रा० प्र०—१ *'खग'* का भाव कि तुम आकाशमें उड़ा करते हो, बिना थिर हुए नहीं समझ सकते। २—चतुराननका भाव कि उनके चार मुखसे चार वेद निकले इससे वे भगवत्तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं। ३—*'सोइ करेहु'*.........' का भाव कि कदाचित् किसी कारणसे उपदेश देनेको उद्यत न हो सकें तो जैसी वे आज्ञा दें वैसा ही करना।

दो०—असि कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान।
हरिमायाबल बरनत पुनि पुनि परम सुजान॥ ५९॥

अर्थ—ऐसा कहकर देवर्षि नारदजी श्रीरघुनाथजीका गुण-गान करते हुए चले। परम सुजान (चतुर) नारदजी बारंबार भगवान्‌की मायाका बल वर्णन करते (जा रहे) हैं॥ ५९॥

पं० रा० व० श०, वै०, रा० शं०—१ रामगुणगान करते चलनेका कारण एक तो यही है कि यह आपकी रहनी है, आपकी प्रकृति है, स्वभाव है। दूसरे, यहाँ गरुड़जीपर मोहकी प्रबलता देख चुके हैं इस कारण मोहसे अपनी रक्षाके लिये रामगुणगान करते चले, यथा—*'हरन मोहतम दिनकर कर से'* *'राम दूर माया बढ़ति घटति जानि मन माहि'*—(दो०)। पुनः, मायाकी प्रबलता बार-बार वर्णन करते हैं जिसमें स्मरण रहे, उसके भुलावेमें न आवें, यही परम चतुरता है। २—*'पुनि पुनि'* से ध्वनित होता है कि मायासे डरते रहते हैं, इसीसे बार-बार गान करते हैं। बुद्धिमान् बड़ोंको मोहमें देखकर और भी भजनमें तत्पर होते हैं, मायासे छूटनेका यही एक उपाय है। [पं०—भुशुण्डिजीके पास प्रथम ही जानेको न कहा क्योंकि अभी मोहनिवृत्तिके समयमें कुछ समय बाकी है; जबतक ब्रह्मा और शिवजीके पास जाकर लज्जित होगा, सबका एक ही सिद्धान्त सुनेगा तबतक वह समय भी आ जायगा।]

* जो देहि निदेसा—(का०)।

वि० त्रि०—जबतक गरुड़जी बन्धन काटकर नहीं आ गये तबतक देवर्षिजी गरुड़लोकमें ही ठहरे कि बन्धन कटनेका समाचार सुन लें तब कहीं जायँ। गरुड़जीको प्रसन्न होकर नारदजीको समाचार देने आना था सो व्याकुल होकर आये, और अपना संशय सुनाने लगे। नारदजीके हृदयमें प्रताप समझकर और भक्तवत्सलता स्मरण करके (यथा—*'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥'*) प्रेम छा गया। गरुड़जीको ब्रह्मलोक भेजकर आप हरिगुण गान करते सरकारके दर्शनको चल पड़े।

तब खगपति बिरंचि पहिं गएऊ। निज संदेह सुनावत भएऊ॥ १॥
सुनि बिरंचि रामहि सिरु नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर* छावा॥ २॥
मन महुँ करइ बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ज्ञाता॥ ३॥
हरिमाया कर अमिति† प्रभावा। बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥ ४॥
अगजगमय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा॥ ५॥

अर्थ—तब पक्षिराज गरुड़ ब्रह्माजीके पास गये और अपना संदेह कह सुनाया॥ १॥ ब्रह्माजीने सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको मस्तक नवाया अर्थात् प्रणाम किया। (उनका और उनकी मायाका) प्रताप समझकर हृदयमें प्रेम छा गया अर्थात् वे प्रेममें मग्न हो गये॥ २॥ ब्रह्माजी मनमें विचार करने लगे कि कवि, कोविद और ज्ञानवान् सभी मायाके वश हैं॥ ३॥ भगवान्‌की मायाका प्रभाव अतुल है कि जिसने मुझीको बहुत बार नाच नचाया है॥ ४॥ यह चराचरमय जगत् मेरा ही पैदा किया हुआ है‡ (जब मुझको ही मोह हो गया तब मेरे उत्पन्न किये हुए जीवोंको जिनमेंसे गरुड़ भी हैं उन) पक्षिराजको मोह होनेमें कुछ आश्चर्य नहीं है॥ ५॥

नोट—१ (क) *'तब खगपति………'* इति। *'खगपति'* शब्द सूचित करता है कि उन्हें अपने पक्षिराज होनेका अभिमान बना हुआ है। यह दीपदेहली न्यायसे पूर्व प्रसङ्गके साथ भी लगता है। इसी भावसे नारदजीको प्रणाम न किया था और आगे विरंचिको भी प्रणाम न करेंगे। यद्यपि नारदजीने 'खग' सम्बोधनद्वारा सावधान भी किया पर उनका अहंकार बना ही रहा। (ख) *'बिरंचि'* नाम देनेका भाव कि इन्होंने सारी सृष्टि रची है, सृष्टिकर्ता हैं यह समझकर गये। (ग) *'निज संदेह'* जो ५८ (७) से दोहा ५८ तकमें कहा गया। (घ) *'समुझि प्रताप'* इति। प्रताप समझकर प्रेम हुआ और प्रणाम किया कि आप और आपकी माया धन्य है कि गरुड़ ऐसे निकटवर्तीको भी नचाकर उनका तमाशा देख रहे हैं—(पं०)। ☞चरित एक ही है पर उसीसे गरुड़को मोह और ब्रह्माको प्रेम हुआ। (ङ) *'नचावा'* से जनाया कि लज्जारहित कर दिया था।

वै०—१ मायाका भय मान *'सिरु नावा'* और प्रताप समझकर कि उनकी गति अपरम्पार है, ऐसा नरनाट्य करते हैं कि उसमें ऐश्वर्यका छींटा भी नहीं पाया जाता इत्यादि, उनके हृदयमें प्रेम छा गया। [*'समुझि प्रताप'* इति। यद्यपि गरुड़ने बन्धन कहकर लघुता दिखायी पर ब्रह्माजी जाननेवाले हैं उनको इस चरितमें प्रताप देख पड़ा, प्रभुके माधुर्यचरितसे उनपर अति प्रेम छा गया। (रा० शं० श०)] २-*'करइ बिचार'* इति। विचार यह करते हैं कि किसके पास इन्हें भेजें जिससे इनका मोह मिटे क्योंकि कवि, कोविद, ज्ञाता सभी तो मायावश हैं, जो स्वयं मायावश है वह दूसरेको कब मायासे छुड़ा सकता है।

नोट—☞*'हरिमाया कर अमित प्रभावा'* यथा—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया**', यह बा० मं० श्लो० ६ से लेकर बहुत बार आ चुका और आगे भी आवेगा। ☞यहाँ ज्ञानियोंका स्वभाव दिखाया

* 'अति'—(भा० दा०)। 'उर'—(का०)।
† अमित—(का०)।
‡ पां०—अर्थ—जिस मायाने जड़ चेतनमय जगत्‌को और मुझको पैदा किया।

कि वे किसीको मायावश देखकर उसे दोष नहीं देते और न आश्चर्य करते हैं वरन् उसपर दया करते हैं, प्रभुको प्रणाम करते हैं इत्यादि।

तब बोले बिधि गिरा सुहाई। जान महेस राम प्रभुताई॥ ६॥
बैनतेय संकर पहिं जाहू। तात अनत पूछहु जनि काहू॥ ७॥
तहँ होइहि तव संसय हानी। चलेउ बिहंग सुनत बिधि बानी॥ ८॥

अर्थ—तब (मनमें विचार कर चुकनेपर) ब्रह्माजी सुन्दर वाणी बोले कि 'महादेवजी रामचन्द्रजीकी प्रभुता जानते हैं॥ ६॥ हे विनताके पुत्र गरुड़! तुम शंकरजीके पास जाओ। हे तात! और कहीं किसीसे न पूछो॥ ७॥ वहाँ तुम्हारे सन्देहका नाश होगा।' ब्रह्माजीके वचन सुनते ही पक्षी चला॥ ८॥

नोट—१ (क) *'गिरा सुहाई।'* वाणीमें शंकरजीकी प्रशंसा है, गरुड़जीका हित है, उनके कल्याणकी बात है और वचनोंमें प्रेम, दया और मधुरता इत्यादि है, अतः 'सुहाई' कहा। पंजाबीजी कहते हैं कि श्रोताके अनुकूल होनेसे सुहाई कहा। (ख) *'जान महेस.........'* श्रीशंकरजीके समान दूसरा नहीं जानता *'नाम प्रभाउ जान सिव नीको।.........'* जहाँ देखिये इन्हींकी राय मानी गयी है, जैसे पृथ्वीके रावणादिसे व्याकुल होनेपर *'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं'*, विवाह-समय *'सिव समुझाये देव सब जनि आचरज भुलाहु।.........'* इत्यादि। सबसे अधिक जाननेमें 'महेश' नाम दिया और आगे गरुड़का इनके द्वारा कल्याण होगा यह सूचित करनेको 'शंकर' नाम देते हैं। *'संकर पहिं जाहू'* का भाव कि वहाँ जानेसे तुम्हारा कल्याण होगा।

२ (क) *'बैनतेय'* अर्थात् विनतासम्बन्धी नाम देनेका भाव कि गरुड़ इस समय वैसे ही चिन्तित हैं जैसी विनता थी। उनकी चिन्ता देख यह नाम दिया। [गरुड़जीने खगपतित्वाभिमानवश जगत्के विरचयिता विरंचिको भी प्रणाम न किया। यहाँ *'बैनतेय'* सम्बोधन देकर ब्रह्माजी सुझाते हैं कि तुममें इस समय मातृस्वभावका धर्म विनतता (विनम्रता) नहीं है, तुम्हारा व्यवहार माताके नामको कलङ्कित करनेवाला है, इस प्रकार शं (कल्याण) नहीं होगा। कल्याण चाहते हो तो तुम अपनी माताका 'वि-नता' (विशेष नम्रतावाली) नाम चरितार्थ करते हुए कल्याणकर शंकरजीके पास जाओ। 'शंकर' इति। '**शं करोमि सदा ध्यानात्परमं यन्निरामयम्। भूतानामसकृत्तस्मात्तेनाहं शंकरः स्मृतः**' इति स्कन्दे। (प० प० प्र०) (ख) *'अनत जनि पूछेहु'* इससे पार्वतीजीके *'तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई'* (५५। ४) अर्थात् मुनियोंसे क्यों न पूछा, इस प्रश्नका उत्तर हो गया। रा० प्र० कार कहते हैं कि दूसरेसे पूछनेको इससे मना किया कि कोई ऐसी बात न कह दे जिससे मोह और बढ़ जाय, रोग असाध्य हो जाय। आशय यह है कि और कहीं तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।

रा० प्र०—*'चलेउ बिहंग सुनत बिधि बानी।'* *'बिहंग'* पद देकर शीघ्र उड़कर जाना सूचित किया और *'बिधि'* पदसे कार्यसिद्धि अनुष्ठान बताया। अर्थात् इनकी वाणी विधि है, इसपर चलना कर्तव्य है। *'बोले बिधि गिरा सुहाई'* उपक्रम और *'सुनत बिधि.........'* उपसंहार है। (*'बिहंग'* शब्द देकर वक्ताने जना दिया कि अब उनका विहंगपतित्वका अहंकार जाता रहा)।

दो०—परमातुर बिहंगपति आएउ तब मो पास।
जात रहेउँ कुबेरगृह रहिहु उमा कैलास॥ ६०॥

तेहिं मम पद सादर सिरु नावा। पुनि आपन संदेह सुनावा॥ १॥

अर्थ—तब पक्षिराज अत्यन्त व्याकुल और शीघ्रतासे मेरे पास आये। हे उमा! उस समय मैं कुबेरके घर जाता था और तुम कैलाशपर थीं॥ ६०॥ उसने आदरपूर्वक मेरे चरणोंमें मस्तक नवाया, फिर (प्रणाम करनेके बाद) अपना संदेह सुनाया॥ १॥

नोट—१ (क) *'परमातुर'* से जनाया कि पूर्व आतुर था अब परमातुर है। पहले व्याकुल थे,

यथा—*'ब्याकुल गएउ देवरिषि पाहीं।'* नारदजीने ब्रह्माजीके पास भेजा पर ब्रह्माजीने भी संशय न दूर किया वरन् शिवजीके पास भेजा; अतः वे बहुत व्याकुल हैं कि न जाने क्या दौड़ते ही बीतेगा! 'पुनः *'परमातुर'* से अत्यन्त शीघ्रता भी सूचित की। नारदजी और ब्रह्माजीके पास जानेमें *'गएउ देवरिषि पाहीं', 'तब खगपति बिरंचि पहिं गएऊ'* कहा था क्योंकि तब इतनी आतुरता न थी। 'चलेउ' और 'आएउ' शब्दोंसे भी शीघ्रता झलक रही है। [रा० शं० श० जीका मत है कि नारदजीने ब्रह्माजीके विषयमें कहा था कि वे कुछ कहेंगे, तुम वैसा ही करना। आशय यह कि वहाँ संदेहकी निवृत्ति न होगी, आगे चलकर होगी। इसीसे व्याकुलता बनी रही जिससे प्रणाम करना भूल गये। और शंकरजीका महत्त्व ब्रह्माजीने कहा है तथा यह भी कहा है कि संदेहकी निवृत्ति होगी, अतः महत्त्व विचारकर और कार्यकी सफलता जानकर प्रणाम किया] *'कुबेर गृह'*=अलकापुरी। इसमें पार्वतीजीकी इस सम्भावित शंकाका समाधान है कि मैं तो सदा साथ ही रहती हूँ, किस अवसरपर गरुड़ आपके पास आये।

२ *'सादर सिरु नावा।'* न नारदको प्रणाम किया न ब्रह्माको। इसका एक कारण तो व्याकुलता है, दूसरे इससे यह भी जनाया कि गरुड़को उन दोनोंके पास जानेतक कुछ अहंकार भी था। यहाँ गुरुबुद्धि आयी, अभिमान जाता रहा, अतः प्रणाम किया। उन दोनोंके पास जिज्ञासुकी तरह न गये थे और इनके पास जिज्ञासु बनकर आये। जिज्ञासु इसी तरह प्रश्न करते हैं। श्रीपार्वतीजी और भरद्वाजजीने भी इसी तरह प्रश्न किया था।* आगेके *'सुनि ता करि बिनती मृदुबानी'* से भी यही बात पुष्ट होती है। [इससे ज्ञात होता है कि *'बैनतेय'* शब्दका गूढ़ व्यंग्य वे समझ गये। धन्य है तुलसीकी सूक्ष्मतम दृष्टि, उनकी पावन भाव-दर्शनकला!! (प० प० प्र०)]

गौड़जी—गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें कालका निर्देश बहुत कम स्थलोंमें किया है, उसका कारण भी यही है कि *'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥ कलपभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥'*

इसीलिये कालक्रममें एक ओर बहुत भेद और दूसरी ओर कथा-प्रबन्धकी विचित्रता है कि चार अवतारोंकी कथा एकमें गायी है। ऐसी दशामें मतभेदका वर्णन करनेमें कथाकी सरसता और वर्णनासौन्दर्यको हानि पहुँचती है। जहाँ बिलकुल मतभेद नहीं है वहाँ समय-निर्देश स्पष्ट है जैसे रामजन्म। जहाँ समय-निर्देशकी स्पष्टताका अभाव है वहाँ लक्षणासे, ध्वनिसे और घटनाक्रमसे समयका प्रच्छन्न निर्देश हुआ है। प्रस्तुत प्रसंगमें *'जात रहेउँ कुबेरगृह उमा रहिहु कैलास'* दोहेका यह उत्तरार्ध बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सती-विमोहवाले अवतारसे नितान्त भिन्न अवतारकी कथा है। अर्थात् गरुड़जीको जिस अवतारमें मोह हुआ है वह सतीविमोहवाले अवतारके या तो पहलेका है या बादका। उसी अवतारमें यह घटना नहीं हो सकती क्योंकि राम-रावण-युद्धके समय शायद भगवान् शंकर ८७००० वर्षोंकी समाधिमें रहे होंगे। इसमें तो बिलकुल संदेह नहीं है कि पार्वतीजन्मके पहलेकी यह बात है। सतीविमोहप्रसंगमें विश्वनाथ ज्यों ही कैलाश पहुँचे त्यों ही समाधि लगा ली जो अखण्ड और अपार थी। ८७००० वर्षोंके बाद दक्षयज्ञ-विनाश और सतीका तन त्याग हुआ। इस बीचमें सतीविमोहवाले रामावतारका काल बीत गया था। इसके बाद ही मरालरूप धरकर भगवान् विश्वेश्वरने भुशुण्डिके मुखसे रामकथा सुनी। यह सतीविमोहवाले रामावतारका कल्प था। अब यह विचार करना चाहिये कि गरुड़-भुशुण्डि-संवादवाली घटना उससे पहलेकी है या बादकी। आगेके वर्णनसे स्पष्ट है कि भगवान् शंकरने अपने मराल शरीरके अनुभवके बाद गरुड़जीको भुशुण्डिके पास भेजा है पहले नहीं। अतः गरुड़-विमोहप्रसंग बादके रामावतारके राम-रावण-युद्धके सम्बन्धका है। पहले रामावतारके सम्बन्धका होना इसलिये भी असम्भव है कि वह स्वायम्भुवमनु और शतरूपाकी तपस्याके

* मिलान कीजिये—'भरद्वाज राखे पद टेकी॥-बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ नाथ एक संसउ बड़ मोरें' बा० ४५ (५) से ४६ तक। तथा 'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी' बा० १०७ (७) 'बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि' बा० १०९······'अति आरति पूछउँ सुरराया' इत्यादितक।

फलस्वरूप हुआ है अतः वह दूसरे मन्वन्तरमें ही हो चुका होगा। इसलिये वह कथा तो बहुत पुरानी है। वही शिवजीने मरालवेशमें भुशुण्डिजीसे सुनी और वही भुशुण्डिने गरुड़से भी कही। जिस समय गरुड़के मोहका भुशुण्डि निरसन कर रहे थे उस समय भी गरुड़प्रसंगवाले रामावतारके चरित हो ही रहे थे। गरुड़जीको मोह यह था कि राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी भी नागपाशमें बँधकर हमारे मोहताज हो सकते हैं, यह कैसी बात है? इसीको पुरानी कथा सुनाकर भुशुण्डिजीने सुनाया कि भगवान् सदा ऐसी लीला करते रहते हैं, तुमको जिससे विमोह हुआ वह नयी बात नहीं है। इस कथासे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सतीविमोह-प्रसंगसे लेकर वर्तमान उमा-महेश्वर-संवादतक कम-से-कम दो रामावतार तो हो ही चुके थे।

सुनि ता करि बिनती* मृदु बानी। प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी॥ २॥
मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावौं तोही॥ ३॥
तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥ ४॥

अर्थ—हे भवानी! उसकी कोमल विनय और प्रेमयुक्त वाणी सुनकर मैंने उससे प्रेमसे कहा—॥ २॥ हे गरुड़! तुम मुझे रास्तेमें मिले हो (मैं कुबेरके यहाँ जा रहा हूँ, मार्गमें) तुम्हें किस प्रकार समझाऊँ॥ ३॥ सब सन्देह तभी नष्ट हों जब बहुत समयतक सत्सङ्ग किया जाय॥ ४॥

रा० शं०—गरुड़ने मृदुवाणीसे विनती की इसलिये शंकरजीने प्रेमसहित कहा।-(औरोंने टाल दिया था। शिवजीमें गुरुबुद्धि हुई, उनको सादर प्रणाम भी किया, अतः उन्होंने प्रेमसे समझाया) *'सब संसय'* का भाव कि कुछ संशय निवृत्त भी हो जाय तो काम नहीं चलेगा।

पं०—*'प्रेम सहित मैं कहेउँ।'* नम्रता देखकर, हरिका पार्षद जानकर तथा महामोहसे अत्यन्त आर्त्त देखकर, (यथा—*'परमातुर बिहंगपति आएउ तब ....'*, *'बिनीत'* *'सिरु नावा'*) प्रेमसे समझाया। ☞दुखितसे इसी तरह बोलना और समझाना चाहिये, यह दिखाया।

वै०—गरुड़ वेदविद् ज्ञानी हैं। विद्वान्‌का सन्देह मिटाना सुगम नहीं है। अतः कहा कि जब बहुत काल सत्संग करो तब संदेह दूर होगा।

नोट—१ ☞जो बात नारदजीने कही थी—*'महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे॥'* वही बात शिवजीने कही—*'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सत्संगा॥'* अर्थात् परमेश्वरके सम्बन्धमें जब मोह होता है तब वह शीघ्र नहीं छूट सकता, भगवत्-चरित्र संतोंसे बहुत कालतक सत्संग करके सुनता रहे तब संदेहकी निवृत्ति होती है। ☞आजकलके नवयुवकोंको इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिये। २—*'सुनि ता करि बिनीत मृदु बानी'*, ये विशेषण नारद और ब्रह्माजीसे कथनके समय नहीं दिये गये। ऐसा करके जनाया कि उस समय उनकी ओरसे इनका विनम्र भाव न था। *'बिनती'* वा *'बिनीत'* से बा० ४५ (५)-४६ और १०७ (७)-१०९ में भरद्वाज और पार्वतीजीने जैसे विनती की थी उसी ढंगकी विनती सूचित कर दी। आगे ये भुशुण्डिजीसे भी विनीत मृदु वचन कहेंगे इसीसे यहाँ नहीं लिखा। मुख्य प्रसङ्ग वही है, अतः वही स्पष्टरूपसे लिखेंगे। यह ग्रन्थकारकी शैली है। ३—'सत्संग' करनेको कहकर आगे बताते हैं कि सत्संगमें क्या होता है? वहाँ हरिकथा होती है। हरिचरित-विषयक संदेह हरिचरित सुननेसे ही जायगा। यही बात आगे कहते हैं। हरिचरित एक-दो दिनमें कहा नहीं जा सकता। इसीसे कहा कि बहुत काल सत्संगमें रहना होगा।

सुनिअ तहाँ हरि कथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई॥ ५॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥ ६॥

* बिनीत-(का०), पं०। बिनीत-पाठ भी उत्तम जान पड़ता है। पूर्व भी ये शब्द आये हैं। यथा—'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदुबानी॥' (५२। ८)

नित हरिकथा होति जहँ भाई। पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई॥ ७॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अति नेहा॥ ८॥

शब्दार्थ—*'प्रतिपाद्य'*—किसी बातके प्रमाणपूर्वक कथनको 'प्रतिपादन' कहते हैं, जिस विषयका प्रतिपादन किया जाय वह 'प्रतिपाद्य' है। वर्ण्य।

अर्थ—और वहाँ (सत्संगमें रहकर) सुन्दर हरिकथा सुनी जाय जो अनेक प्रकारसे मुनियोंने गायी है॥ ५॥ जिसके आदि, मध्य और अन्तमें भगवान् रामचन्द्रजी ही प्रतिपाद्य प्रभु हैं॥ ६॥* हे भाई! जहाँ नित्यप्रति हरिकथा होती है, वहाँ तुमको मैं भेजता हूँ, तुम वहाँ जाकर सुनो॥ ७॥ सुनते ही सब संदेह दूर हो जायगा और श्रीरामचरणमें अत्यन्त प्रेम होगा॥ ८॥

टिप्पणी—*'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।'* यथा—*'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं''''''''तब तब कथा मुनीसन्ह गाई॥'* (१। १४०। २-३), *'कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥'* (१। ३३। ७) *'हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥'* (१। १४०। ५) 'नाना भाँतिकी' कथा सुननेका तात्पर्य यह है कि एक ही प्रकारकी सुननेसे फिर दूसरे प्रकारकी सुननेमें संदेह हो जाता है कि यह चरित कैसा? हमने तो आचार्योंसे दूसरी प्रकार सुना है? २—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु''''''''।'* इति।—**'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'** अर्थात् उपक्रम-उपसंहार अर्थ, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति ये छः ग्रन्थके तात्पर्यके निर्णायक हैं। इससे जिस ग्रन्थमें इन छहों लिङ्गोंसे श्रीरामभगवान् ही प्रतिपाद्य हैं वही ग्रन्थ *'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'* है, जिसमें इन छः उपपत्तियोंमेंसे एकको भी कमी हो उसे प्रभु-प्रतिपाद्य विषयवाला ग्रन्थ न समझना चाहिये।—**'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्येऽवसाने च हरिः सर्वत्र गीयते॥'**

रा० शं०—*'जाइहि सुनत सकल संदेहा'* क्योंकि कथा *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'* है। *'राम चरन होइहि अति नेहा'* क्योंकि कथा श्रीरामभक्ति और प्रेमकी सीमा है, यथा—*'रघुबरभगति प्रेम परमिति सी।'*

नोट—स्मरण रहे कि भुशुण्डिजीने जो कथा कही, वही श्रीशिवजीने पार्वतीजीसे कही है। यथा—*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़॥'* (१। १२०) अतः वह कथा *'सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर सुखद।'* (१। १२०) *'सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए।'* (१। १२१) इस उपक्रमसे प्रारम्भ होती है और उसका उपसंहार *'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥'* (७। ५२। १) पर हुआ है। बीचमें सब वही रामायण है।

इसी कथाके प्रसंगमात्र *'रामचरित सर कहेसि बखानी।'* (७। ६४। ७) से लेकर *'पुर बरनत नृप नीति अनेका।'* (७। ६४। ६) तक कहे गये हैं। इसके आगे शिवजी कहते हैं कि *'कहा समस्त भुसुंडि बखानि। जो मैं तुम्ह सन कही भवानी॥'* (७) इस तरह दोनोंका ऐक्य दिखाया गया है।

इसी कथाके श्रवणसे दोनोंका मोह दूर हुआ था। यथा—*'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।'* (७। ५२), *'गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।'* (७। ६८)

इसी कथाके लिये श्रीशंकरजी कहते हैं—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥'* और इसमें आदि, मध्य, अन्त सबमें भगवान् श्रीरामहीका प्रतिपादन है ही।

पां०, वै०—१ जिस हरिकथाके आदि, मध्य, अन्तमें सब स्वरूप छोड़ एक श्रीराम ही भगवान् प्रभु प्रतिपाद्य हैं अर्थात् इन्हींका ऐश्वर्य वर्णन होता है, दूसरे रूपका नाम नहीं। २—*'नित होत'* का भाव कि वहाँ तुम्हें प्रश्न करनेकी भी आवश्यकता न होगी। कथा सुनते ही संदेह चला जायगा, सब मनोरथ सिद्ध हो जायँगे। भाई बोलचाल है। [पुनः ३ 'नित' से जनाया कि यहाँ नित्यका यह नियम है, यह

---

* १—जिस मुनिसमाजमें तीनों कालमें प्रभु ही प्रतिपाद्य हैं—(करु०)। २—कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि "जैसे श्रीमद्भागवतमें 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यह लिखा है वैसे ही 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' यह जिसमें प्रतिपादन हो।"

एक परिचर्या है। अन्य स्थानोंमें माघ, कार्त्तिक, वैशाख आदिका प्रसंग पाकर कुछ कथा कुछ दिन हो जाती है; अतः यहाँ सुन लेनेपर अब अन्यत्र न जाना पड़ेगा।

नोट—'*जाइहि सुनत सकल संदेहा॥*.........' इति। यह शंकरजीका गरुड़को आशीर्वाद हुआ। '***जाइहि सुनत सकल संदेहा***' इस शिववाक्यसे शिक्षा लेनी चाहिये। चरित सुननेपर, बहुत काल सत्संग करनेपर भी यदि मनुष्यको प्रभुके चरितमें, उनके स्वरूपमें संदेह रह जाय तो निश्चय समझना चाहिये कि उसने न तो यथार्थ सत्संग ही किया है और न चरित ही सुना है। सुननेपर फिर मोह कैसा। फिर तो श्रीरामपदमें स्नेह होना चाहिये। चरित-श्रवणके ये दोनों फल कहे—सकल संदेहोंकी निवृत्ति और श्रीरामपदनेह।

दो०—बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥६१॥

अर्थ—बिना सत्संगके हरिकथा नहीं (अर्थात् सुननेको नहीं मिलती), बिना हरिकथाके मोह नहीं दूर होता और बिना मोहके मिटे श्रीरामचन्द्रजीके चरणमें निश्चल प्रेम नहीं होता॥ ६१॥

पं० वि० त्रि०—शिवजीके ऐसा कहनेका भाव यह है कि मैं तुम्हें ऐसी जगह भेजता हूँ, जहाँ नित्य सत्संग होता है। सत्संग और हरिकथाका अविनाभाव सम्बन्ध है, और हरिकथा ही भक्तिरसका उद्दीपन विभाव है क्योंकि उसीसे मोह भागता है। (यथा—'***रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥***') तब भक्ति स्थायी भावको प्राप्त होकर रसरूपमें परिणत होगी। तुम्हें अनुराग तो है, पर स्थायी भाव तो तभी प्राप्त होगा, जब कुछ दिनोंतक सत्संग करोगे।

नोट—१ पूर्व कहा कि सत्संग करो, वहाँ जाकर कथा सुनो, उससे संशय दूर होगा और श्रीरामपदमें अति नेह होगा। वे ही सब बातें यहाँ कारणमाला अलंकारसे इस एक दोहेमें एकत्र करके कहीं। पुनः, २—पूर्व '***होइहि रामचरन अति नेहा***' कहकर यहाँ '*होइ न दृढ़ अनुराग*' कहनेका भाव कि प्रेम उत्पन्न होकर कुछ दिनमें चला भी जाता है, मोह उसको दृढ़ नहीं रहने देता; पर सत्संग और हरिकथासे दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। पुनः, दो बार वही बात कहनेका भाव कि सत्संग और हरिकथासे प्रेम उत्पन्न होता है, यह पहले बताया और अब बताते हैं कि बिना उसके प्रेम रहा भी हो तो वह दृढ़ रह नहीं सकता जैसे कि तुम्हें श्रीरामपदमें प्रेम था पर अब जाता रहा। तथा यह कि दूसरे किसी उपायसे दृढ़ अनुराग हो नहीं सकता, यही एकमात्र उपाय है। पुनः, गरुड़को विश्वास दिलानेके लिये दोहराया। ३—'***हरिकथा***' अर्थात् जो मोहादिके हरण करनेवाले हैं उनकी कथा। ४—मोह गये बिना रामपदमें अनुराग नहीं होता, इस कथनका भाव कि मोहवश जो अनुराग 'ठाँव-ठाँव' अनेक स्थानोंमें जम रहा है वह हरिकथासे ही दूर होता है (रा० प्र०)।

रा० शं०—सत्संगसे हरिकथा, यथा—'***हरिहर कथा बिराजति बेनी***', कथासे मोह-निवृत्ति, यथा—'***निज संदेह मोह भ्रम हरनी।***' (१। ३१। ४) '*हरन मोह तम दिनकर कर से।*' (१। ३२। १०) और मोह-निवृत्तिसे श्रीरामचरणानुराग। यथा—'***होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥***' (२। ९३। ५) (उदाहरण तो स्वयं श्रीगिरिजाजी तथा गरुड़जीके वचन हैं कि कथा सुनकर मोह दूर हो गया और श्रीरामजीमें प्रेम हुआ।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप* ज्ञान बिरागा॥ १॥
उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह काकभसुंडि सुसीला॥ २॥
रामभगति पथ परम प्रबीना। ज्ञानी गुनगृह बहु कालीना॥ ३॥
रामकथा सो कहइ निरंतर। सादर सुनहिं बिबिध† बिहंग बर॥ ४॥

अर्थ—योग, तप, ज्ञान और वैराग्यके करनेपर भी बिना प्रेमके श्रीरघुनाथजी नहीं मिलते॥ १॥ उत्तर दिशामें एक सुन्दर नील पर्वत है। वहाँ सुशील काकभुशुण्डिजी रहते हैं॥ २॥ जो रामभक्तिमार्गमें अत्यन्त

* जप—(का०)। † बिबिधि—(भा० दा०।) बिबिध—(का०)।

प्रवीण हैं, ज्ञानी हैं, गुणधाम हैं और बहुत कालके (पुराने) हैं॥ ३॥ वे निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी कथा कहते हैं और तरह-तरहके अनेक सुन्दर श्रेष्ठ पक्षी आदरसहित सुनते हैं॥ ४॥

नोट—१ *'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा',* यथा—*'रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥'* (२। १३७। १)

पं० वि० त्रि०—*'उत्तर दिसि''''''''सुसीला।'* इति। पहिले कह आये हैं *'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी॥'* (५६। ७) (जो पार्वतीजीसे कहा था) वही यहाँ भी कह रहे हैं। भारतवर्षके दक्षिण भी एक नील गिरि है। उसका ग्रहण न हो इसलिये उत्तर दिसि लिखते हैं। 'दूरि' लिखनेका भाव यह कि भारतवर्षके उत्तर किंपुरुषवर्ष है और उसके भी उत्तर हरिवर्ष है, और उससे भी उत्तर इलावृतवर्ष है, जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है। इलावृतके बाद रम्यकवर्ष पड़ता है। इलावृतवर्ष और रम्यकवर्षकी सीमा नीलगिरि है। इन पर्वतोंकी द्रोणियाँ भौमस्वर्ग कहलाती हैं, वे धर्मात्माओंके निवासस्थान हैं, वहाँ पापी किसी तरह पहुँच नहीं सकते, यथा—**'शैलानामन्तरे द्रोणाः सिद्धचारणसेविताः। भौमा ह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामालया मुने॥ नैवेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतैरपि।'** काग दुःशील होते हैं यथा—*'बायस पलिअहि अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥'*

नोट—२ भुशुण्डिजीको 'सुशीला', *'रामभक्तिपथ परमप्रवीण',* 'ज्ञानी' 'गुणगृह' और *'बहु कालीन'* विशेषण देकर सूचित किया कि संदेह दूर करनेवाले गुरुमें ये सब गुण होने चाहिये। सुशील न होगा तो जिज्ञासुका मन पहिले ही उदास कर देगा तब वह बेचारा मन लगाकर न संदेह ही ठीक-सा कहेगा और न सुननेमें उसका मन लगेगा। और कालीन न होगा तो उसको अनेक प्रकारके चरित न मालूम होंगे; क्योंकि सत्संग उसे अधिक न मिला होगा। और रामभक्तिपथमें प्रवीण इत्यादि न होगा तब वह दूसरेको भक्तिमें दृढ़ कैसे कर सकेगा। पुनः, 'सुशील' है अतः तुम्हारा आदर-सत्कार करेगा। उसके समीप जानेमें कोई सन्देह न करो। यह न विचार मनमें लाओ कि वह चण्डाल पक्षी है, उसके पास कैसे जायँ। उसमें काकके अवगुण छू नहीं गये हैं। रामभक्तिपथमें प्रवीण है अतः भक्तिका पूरा स्वरूप तुमको उससे मालूम हो जायगा। ज्ञानी है। अर्थात् वह श्रीरामजीको प्रिय है, उनका विशेष कृपापात्र है, यथा—*'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा।'* (१। २२। ७) चारों प्रकारके भक्तोंमेंसे वे श्रेष्ठ भक्त हैं। पुनः, ज्ञानी है अतः उसे संशय नहीं है, वह अपने ज्ञानसे तुम्हारे संशय दूर कर देगा, यथा—*'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'* (६। ४६। ४), *'दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया।'* (४। ११। ३) गुणगृह है अर्थात् समस्त सद्गुणसम्पन्न है। बहुकालीन है अर्थात् अनेक कल्प और प्रलय हो गये उसकी मृत्यु नहीं हुई। [*'रामभक्ति पथ''''''''* ' अर्थात् नवधा, प्रेमा, परा इत्यादि भक्तिमार्गके सब भेदभाव भली प्रकार जानता है। २ ज्ञानी=आत्मतत्त्वदर्शी। (वै०)। पुनः, ज्ञानीसे जनाया कि वह सर्वत्र प्रभुको ही देखता है; उसमें न तो भेदबुद्धि ही है और न अहंकार यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५) *'निज प्रभुमय देखहिं जगत''''''''।'* (११२) पंजाबीजीका मत है कि *'गुनगृह'* से जनाया कि वह अवधूत ज्ञानी नहीं है।] *'गुनगृह'* कहकर जनाया कि सुशील आदि इतने ही गुण नहीं हैं किन्तु उसमें समस्त शुभगुण हैं। यथा—*'सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे॥'* (८५। ६) 'बहुकालीन' विशेषणसे ही गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे कहा है कि *'नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महाप्रलयहु नास तव नाहीं॥'* (९४। ५) नहीं तो और कहीं तो ऐसा शिवजीका वचन मिलता नहीं है। इससे जनाया कि कल्प-कल्पमें जितने रामावतार हुए हैं वे सब उसके देखे हुए हैं, सब अवतारोंके चरित वह जानता है, उसे श्रीरामरहस्यका पर्याप्त अनुभव है। यथा—*'राम रहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।'* (११४। २-३) (प्र० स्वामीका मत है कि *'बहु कालीना'* विशेषण सनकादिकके लिये भी आया है—*'देखत बालक बहु कालीना'* यहाँ यह भाव लेना कि *'नास कल्पांत न होई'* अति व्याप्ति दोषयुक्त हैं अतः असंबद्ध है। *'तासु नास कल्पांत न होई'* का भाव *'मैं जब तेहि सब कहा बुझाई'*

में ही आयेगा। दास उनसे पूर्ण सहमत नहीं है। सनकादिकके प्रसंगमें *'देखत बालक'* के सम्बन्धसे *'बहु कालीना'* का साधारण अर्थ लिया जायगा और यहाँ भुशुण्डिजीकी 'बहुकालीनता' दिखानेमें यह अर्थ दासकी समझमें अनुपयुक्त नहीं है)।

ये गुण वक्तामें होने चाहिये—*'ते श्रोता बकता समसीला। सबदरसी जानहिं हरिलीला॥'* (१। ३०) *'औरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥'* (१। ३०। ८) *'ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।'* (१। ३०)

३—*'बिहंगबर'* । वरका भाव कि ये वृद्ध, कालीन और विमलमति हैं। यथा—*'सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥'* (५७। ९) *'बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए। सुनै राम के चरित सुहाए॥'* (६३। ४) [इससे इनका अप्राकृत होना सूचित किया—(खर्रा)। वा, जनाया कि ये सब विहंगतनमें योगी विशिष्ट जीव परमहंस आदि हैं-(रा० प्र०)!] ये सब गुण आगे गरुड़जी उनमें देखें-सुनेंगे।

जाइ सुनहु तहँ हरि गुन भूरी। होइहि मोहजनित दुख दूरी॥ ५॥
मैं जब तेहि सब कहा बुझाई। चलेउ हरषि मम पद सिरु नाई॥ ६॥
ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपतिकृपा मरम मैं पावा॥ ७॥

अर्थ—वहाँ जाकर भगवान्‌के गुणसमूह सुनो। (सुननेसे) मोहजनित दुःख दूर हो जायगा॥ ५॥ मैंने जब उसे सब बात समझाकर कही तब वह मेरे चरणोंमें सिर नवाकर प्रसन्न होकर चला॥ ६॥ हे उमा! श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैं इसका मर्म पा गया (वह मर्म क्या है सो आगे कहते हैं)। इसलिये मैंने उसे (स्वयं) नहीं समझाया॥ ७॥

रा० बा० दा०—*'जाइ'* का भाव कि 'अपना बड़प्पन भुला दो, जिज्ञासु बनकर वहीं जाकर सुनो, यह न सोचना कि हम पक्षिराज हैं, उनको बुलाकर सुन लें।'

नोट—१ पूर्व कहा कि *'बहु काल करिय सत्संगा'* तब संशय दूर होगा और यहाँ कहा कि *'हरिगुन भूरी'* सुनो तब मोहजनित दुःख दूर होगा। भाव यह है कि बहुत काल रहनेपर ही बहुत हरिगुण सुननेको मिलेंगे। पुनः भाव कि सत्संगसे *'होइ सब संसय भंगा'* और उसमें 'भूरिहरिगुण-श्रवण' से मोहजनित दुःख दूर होगा। भूरि अर्थात् *'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई'* वह बहुत-सी। (ख) *'मोह जनित दुख'* गरुड़को था, यथा—*'खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भएउ मोह बस तुम्हरिहि नाई॥'* (५९। २),.........अतः उसका कथासे दूर होना कहा।

२ *'सब कहा बुझाई.........।'* इति (क) इसमें वह सब बातें भी आ गयीं जो शिवजीने पार्वतीजीसे कही हैं और जिनको कविने यहाँ दोहराया नहीं। (ख) *'हरषि'* कहकर जनाया कि अबतक व्याकुल था, यथा—*'खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई' 'ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं' 'परमातुर बिहंगपति आएउ तब मो पास।'* वह व्याकुलता अब दूर हुई। शिवजी असत्य नहीं कहते—*'मुधा बचन नहि ईश्वर कहई।'* (९४। ६) यह स्वयं गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे कहा है, अतः उनको पूर्ण विश्वास है कि वहाँ जाते ही मोह दूर हो जायगा, इसीसे *'चलेउ हरषि।'* (ग) *'सिरु नाई',* यह विदाईका प्रणाम तथा कृतज्ञता जनाता है।

३ *'रघुपतिकृपा मरम मैं पावा',* यथा—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* (२। १२७), *'तात बात फुरि रामकृपा ही। रामबिमुख सिधि सपनेहु नाहीं।'* (२। २५६) *'सुमिरत नाम हृदय अस आवा।'* (१। ५७। १) बिना उनकी कृपाके कोई मर्म नहीं जान सकता, यथा—*'लछिमनहू यह मरम न जाना।'* (३। २४। ५) *'रघुपति कृपा मरम मैं पावा'* का अर्थ कोई ऐसा भी करते हैं कि इसमें मैंने मर्म यह पाया कि यह इनपर रघुपतिकृपा है।

रा० बा० दा०—*'रघुपतिकृपा मरम मैं पावा।'* रघुपति-कृपाका मर्म पाया। गरुड़को मोहमें डाला यह कृपा है। आजतक वैकुण्ठाधीशरूपसे सेवा करते थे, अब हमारा परात्पररूप भी जान लें, यह कृपा की गयी।

नोट—४ ☞'गरुड़जी प्रथम नारदके पास गये, क्योंकि इन्हींने नागपाशसे मुक्त करनेके लिये गरुड़जीको युद्धस्थलमें भेजा था। नारदजीने उनको ब्रह्माजीके पास भेजा और कह दिया कि जो आज्ञा वे दें उसका

पालन करना। ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि शंकरजीके पास जाओ वे रामप्रभुत्वके ज्ञाता हैं वहाँ संशय दूर हो जायगा। अतः शंकरजीको चाहिये था कि वे उनका संदेह दूर करते, उन्होंने ऐसा क्यों न किया!'—यह शंका पार्वतीजीको हुई, यह चेष्टासे जानकर भगवान् शंकरने उसका समाधान किया कि यह महामोह है, रास्ते चलते दूर नहीं किया जा सकता, इसके लिये कुछ कालतक सत्संगकी आवश्यकता होती है। दूसरे, इसको अभिमान हुआ, प्रभु इसके अभिमानको दूर करना चाहते हैं। जब यह अपनेसे नीचसे उपदेश पायेगा तब अभिमान दूर होगा—। (पां०—यदि मैं समझा दूँगा तो यह सावधान हो जायगा पर अभिमान न टूटेगा।) तीसरे, ये पक्षिराज हैं और भुशुण्डि भी पक्षी हैं, एक-दूसरेकी भाषा भली प्रकार समझ सकते हैं। इनके अतिरिक्त एक समाधान यह भी हो सकता है कि 'भुशुण्डिजीने श्रीरामचरित शिवजीसे पाया है। इस प्रकार शिवजी उनके गुरु हैं। शिष्यद्वारा मोह दूर हुआ तो वह भी मानो शिवजीहीने दूर किया।' मा० म० कारने उपर्युक्त शंका करके उसका यह समाधान किया है जो अन्तमें दिया गया।

शीला—शिवजीने मर्म जानकर सब मोह-संशय छूटनेका उपाय बता दिया। वैद्य कुपथ्य और रोग जानकर दवा देता है वैसे ही इनको अहं कुपथ्य और मोह रोग हुआ कि हमारे समान त्रिलोकीमें कोई प्रतापवान् नहीं है, इसीसे तो नारदने हमको ही भेजा। कुपथ्यसे मोहरोग हुआ, मोहनाशके लिये रामकथा दवा है, यथा—*'तेहिं बिनु मोह न भाग।'*

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥ ८॥
कछु तेहि ते पुनि मैं नहिं राखा। समुझै खग खग ही कै भाषा॥ ९॥
प्रभुमाया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥ १०॥

अर्थ—कभी उसने अभिमान किया होगा। दयासागर श्रीरामचन्द्रजी उस अभिमानको नष्ट किया चाहते हैं॥ ८॥ और, फिर कुछ इससे भी मैंने उन्हें नहीं रखा (अपने पास रखकर उनका संदेह दूर न कर दिया) कि पक्षी पक्षीकी ही बोली ठीक समझते हैं॥ ९॥ हे भवानी! प्रभुकी माया बड़ी बलवान् है। ऐसा कौन ज्ञानी है, जिसे वह न मोह ले?॥ १०॥

नोट—१ *'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना……'* इति। *'कबहुँ'* से जनाया कि हमें यह नहीं मालूम कि कब अभिमान हुआ; पर रामकृपासे इतना जरूर मालूम हो गया कि किसी समय अभिमान हुआ था। रणबन्धनवाले प्रसंगमें जो मोह हुआ यदि वही यहाँ अभिप्रेत होता तो उसे तो शंकरजी कह ही रहे हैं, ऊपर सब कह ही आये हैं तब *'कबहुँ'* यहाँ कैसे कहते? अतएव इस वाक्यसे यह स्पष्ट है कि कभी अभिमान हुआ था उसको खोनेके लिये इस समय रणबन्धनमें मोह हुआ। यह मोह उस अभिमानकी ओषधि है। जैसे कि देवर्षि नारदको अभिमान हुआ तब उनको विश्वमोहिनी मायाद्वारा कामोद्दीपनरूप ओषधिसे अच्छा किया; वैसे ही इनके पूर्व किसी समयके अभिमानकी मोहरूपी ओषधि की गयी। नारदजीको कामजित होनेका अभिमान हुआ अतः कामसे ही उसको मिटाया। वैसे ही, ऐसा अनुमान होता है कि, इनको अपने बड़े होने या परम कृपापात्र तथा ज्ञानी, भक्तशिरोमणि इत्यादि होनेका अभिमान हुआ इससे इनको मोह हुआ जिसका नाश अधम जातिके पक्षीद्वारा कराया और उसको गुरु बनवाया गया। यह अभिमान-प्रसंग पता नहीं कहाँ है। शिवजी स्वयं उसका पता नहीं बताते तथापि टीकाकारोंने कथाएँ लिखी हैं।—

वीरकविजी लिखते हैं कि "एक बार गरुड़जी भुशुण्डिजीके आश्रममें दैवयोगसे पहुँच गये। भुशुण्डिजीने उनका स्वागत और सादर पूजन किया। गरुड़जी अभिमानवश वहाँ बैठना योग्य न समझकर उस समाजसे तिरस्कारपूर्वक चल दिये। भक्तका अनादर प्रभु न सह सके। इसीसे मायाको प्रेरित कर उनका गर्व चूर्ण करनेके लिये उनको उसी समाजमें भेजा और काकको ही गुरु बनवाया"—यह कथा कहाँकी है या मनगढ़ंत है इसका कोई उल्लेख टीकामें नहीं है। इसी प्रकार कोई टीकाकार सत्योपाख्यानका प्रसंग लेकर यह अनुमान करते हैं कि उस समय गरुड़को अपने बलका अभिमान हुआ था कि मैंने भुशुण्डि-ऐसे पर्वताकार पक्षीको

घायल कर दिया। पर सत्योपाख्यानके प्रसंगमें यदि अभिमान कहें तो वह भी घटता नहीं; क्योंकि वहाँ तो गरुड़ने स्वयं उसी समय भुशुण्डिजीसे कहा है कि मैं मोहके व्याजसे तुम्हारे पास आकर तुमको बड़ाई दूँगा। रघुनाथजीने भी कहा कि ऐसा ही होगा।

अतः यह ठीक निश्चय नहीं हो सकता कि **'कबहुँ'** से किस समय और किस चरितका लक्ष्य है। जब सर्वज्ञ शिवजी ही नहीं बताते तब उसके लिये खोज कहाँ की जाय? फिर वे यह भी नहीं कहते कि कभी अभिमान किया था, किन्तु संदिग्ध वाक्य कहते हैं कि ***'होइहि कीन्ह'***, किया होगा, जिसका भाव ध्वनिसे यही है कि हम जानते नहीं हैं। भगवान्‌का स्वभाव है कि ***'जन अभिमान न राखहिं काऊ'***; अतः भगवत्कृपासे मैं समझता हूँ कि अवश्य अभिमान ही किया होगा।

'कबहुँ' का दूसरा भाव यह है कि भक्त वस्तुतः निरभिमानी होते हैं, पर कभी किसी कारणसे अभिमान हो जाता है।

'सो खोवै चह''''''' '—***'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥'*** (७४। ५) देखिये। [रा० प्र०—इससे न रखा कि जो अभिमान हुआ हो वह भी भोग ले]

पं०—१ यहाँ गर्वहरणमें 'गर्वहारी' विशेषण न देकर 'कृपानिधान' विशेषण दिया, क्योंकि गरुड़जी भक्त हैं। गर्वहारी विशेषण शत्रुगर्व-हरण-प्रसंगमें देते हैं और भक्तके गर्वका निवारण उसकी प्रतिष्ठा रखते हुए करते हैं, यही कारण है कि गरुड़को भक्तोंके पास ही भ्रमाया फिराया। इसी तरह नारदमोह-निवारणार्थ निज माया विश्वमोहिनी तथा उसकी मायासे ही काम लिया गया। उस मायानगरके राजा तथा निवासी एवं स्वयंवरमें आये हुए राजाओंतकको नारदजी देवर्षिरूप ही देख पड़े। बंदरका रूप विश्वमोहिनी और जिनको लीलाकार्यमें सम्मिलित होना था उन दो हरगणोंने ही देखा था। इस तरह उनका मोह दूर हो गया और प्रतिष्ठा बनी रह गयी। २—***'खग ही कै भाषा'*** इस साधारण अर्थसे भगवत्-समीपीमें ऐसा अज्ञान कैसे कहते? अतः इसका अर्थ है कि ''यह पक्षी उस पक्षीके ही कहनेसे समझेगा'' तात्पर्य कि संत अनन्त हैं परंतु जिसके उपदेशसे जिसे बोध होता है उसीसे बोध होता है, दूसरेसे नहीं।—(इस तरह 'भाषा'=कहा हुआ, कहनेसे)।

नोट—२ *'जाहि न मोह'''''''* /'—भुशुण्डि-गरुड़-संवादमें विस्तारसे आया है और पूर्वकाण्डोंमें भी। *'प्रभु माया बलवंत''''''''* ' कहकर आगे *'ज्ञानी भक्तसिरोमनि''''''''* ' इत्यादि कहनेका भाव कि गरुड़को त्रिदेवादिकी माया नहीं व्याप सकती, उनको 'प्रभु' रामजीकी माया व्यापी। यह माया 'प्रभु' की है अतः उनके सामर्थ्यसे उनकी माया विष्णुवाहनतकको मोह लेनेको समर्थ है। 'प्रभु' से मायाकी समर्थता कही।

दो०—ज्ञानी भगतसिरोमनि त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर पावँर करहिं गुमान॥
सिव बिरंचि कहुँ मोहै को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥६२॥

अर्थ—(जो) ज्ञानियों और भक्तोंका सिरमौर और त्रैलोक्यपतिके वाहन (गरुड़) हैं! उन्हींको (जब) मायाने मोहित कर लिया (तब) नीच मनुष्य (क्या) घमण्ड करते हैं? (अर्थात् वे तो किसी गिनतीमें नहीं हैं, उनका घमण्ड करना कि हम मोहवश नहीं हो सकते व्यर्थ है, इससे उनकी नीचता प्रकट होती है। वे तो मोह-मोहाये ही हैं)।* (माया) शिव और ब्रह्माको मोहमें डाल देती है तब दूसरा बेचारा कौन है। (क्या चीज है, किस गिनतीमें है।)† ऐसा मनमें समझकर मुनि मायाके स्वामी भगवान्‌का भजन करते हैं॥ ६२॥

नोट—१ *'ज्ञानी भगतसिरोमनि'* का भाव कि ज्ञानीको और भक्तको अभिमान नहीं होता, यथा—***'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं', 'सबहि मानप्रद आपु अमानी', 'मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह'***, और

* काव्यार्थापत्ति अलंकार है। † तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

ये तो ज्ञानियों तथा भक्तोंमें शिरोमणि हैं। यही नहीं वरन् सदैव भगवान्के निकटवर्ती हैं, सदा उनके चरणका स्पर्श इनको रहता है। जिनके चरण-रजके स्पर्शसे समस्त पातक मिट जाते हैं उनके नित्य चरण-स्पर्शका सौभाग्य जिसको होगा उसे मायाका व्याप्त होना आश्चर्य है। पर जब ऐसे गरुड़जीको भी मायाने मोहमें डाल दिया तब प्राकृत मनुष्य यदि अभिमान करें कि हम बड़े ज्ञानी हैं, हम तो साक्षात् ब्रह्म ही हैं; हमें माया कब वशीभूत कर सकती है, इत्यादि, तो यह उनकी नीचता है। *'नर पावँर करहिं गुमान'* अर्थात् नीच अधम लोग ही ऐसा घमण्ड करेंगे, विचारवान् नहीं। *'करहिं गुमान'* का इशारा उन ज्ञानियोंकी ओर है जो अद्वैतवादी होकर अपनेको ही ब्रह्म मान बैठते हैं, ज्ञानके घमण्डमें भक्तिको छोड़ बैठते हैं और कहते हैं कि हम स्वयं ब्रह्म हैं भजन किसका करें इत्यादि।

२—*'सिव बिरंचि कहुँ मोहै·········'* इति। *'नारद भव बिरंचि सनकादी·········।'* (७०। ६) से *'जो माया सब जगहि नचावा।'* (७२। १) तक इसकी व्याख्या समझिये। अतः वहीं देखिये।

३—(क) *'भजहिं मुनि················'*, यथा—*'सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।'* (वि० ८६) ☞इससे जनाया कि माया न लगे इसका एकमात्र उपाय यही है कि भगवान्का भजन करे। भजन छोड़ा कि मायाने ग्रसा। (ख) *'मायापति'* का भाव कि मायाके स्वामी हैं जब हम उन्हींको स्वामी बना लेंगे, उनका भजन करेंगे तब, माया अपना प्रभाव न जता सकेगी।—माया और भक्तिके प्रसंगमें—*'मोह न नारि नारिके रूपा।'* ··········(११६। २) से *'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥'* (११६। ८) तक—भुशुण्डिजीने इसीको विस्तारसे कहा है। मिलान कीजिये—*'सुर नर मुनि कोउ नाहि जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचार मन माहिं भजिय महामाया पतिहि॥'* (१। १४०) नारदमोह-प्रसंगमें *'सुरनरमुनि'* का मोहित होना कहा था और यहाँ ईश्वरोंका। अथवा, चार कल्पकी कथाके प्रसंगमें वहाँ श्रीमन्नारायणकी मायासे *'सुर नर मुनि'* को कहा और यहाँ साकेतबिहारीकी मायासे ईश्वरोंका भी मोहित हो जाना कहा। वस्तुतः भगवान्के सब रूप पूर्ण और अभेद हैं।

४—*'सिव बिरंचि·········'* यह वाक्य शिवजीका हो नहीं सकता। अतः तुलसी, भुशुण्डि या याज्ञवल्क्यजीका होगा। 'मुनि' श्लेषार्थ शब्द देकर कवि इसे याज्ञवल्क्यके वचन जनाते हैं। बा० १४० वाला वाक्य शिवजीका है। यदि मुनिको श्लेषार्थी न लें तो यह भुशुण्डिवाक्य हो सकता है। भुशुण्डि-गरुड़-संवाद इस काण्डमें प्रधान है ही। तुलसीदासजी भी बराबर भजनका उपदेश करते ही हैं। इस तरह सबका एक मत जनाया।

गएउ गरुड़ जहँ बसै भसुंडी। मति अकुंठ हरि भगति अखंडी*॥१॥
देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गएऊ॥२॥
करि तड़ाग मज्जन जलपाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना॥३॥
बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए। सुनै राम के चरित सुहाए॥४॥

शब्दार्थ—**अकुंठ**=कुण्ठित, कुन्द वा गोठिल न होनेवाली; तीव्र। एक रस रहनेवाली। **अखंड**=जो खण्डित न हो सके, एक तार तैलधारावत् स्थिर रहनेवाली। निश्चल। अविरल।

अर्थ—निश्चल हरिभक्ति और तीव्र बुद्धिवाले भुशुण्डिजी जहाँ रहते थे वहाँ गरुड़जी गये॥ १॥ पर्वत (नीलगिरि) देखकर उनका मन प्रसन्न हो गया और सब माया, मोह और सोच जाते रहे॥ २॥ तालाबमें स्नान और जल-पान कर वे बरगदके नीचे गये और हृदयमें हर्षित हुए॥ ३॥ वहाँ बुड्ढे-बुड्ढे पक्षी श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर चरित्र सुनने आये॥ ४॥

नोट—(क) *'गयउ'* इति। पहले चलना कहा, यथा—*'चलेउ हरषि मम पद सिरु नाई', 'गएउ गरुड़·········'* से अब पहुँचना कहा। (ख) *'जहँ बसै भसुंडी'* से जनाया कि आश्रमकी सीमाके भीतर पहुँचे। सीमातक

* भा० दा० और रा० गु० द्वि० का पाठ 'भसुंडा' 'अषंडा' है। का० में 'भसुंडी' 'अषंडी' है। सत्योपाख्यानमें 'भसुंड' नाम आया है, इस तरह भुसुण्डा भी ठीक है पर रोचक नहीं है। और अन्य काण्डोंमें भुसुण्डि पाठ ही सर्वत्र आया है।

सब आश्रम ही कहलाता है, सबको निवास-स्थान कहते हैं, यथा—'*बालमीकि आश्रम प्रभु आये। रामु दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जलु पावन॥ सरनि सरोज बिटप बन फूले॥ गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥*'........'*सुचि सुंदर आश्रम निरखि*........।' (अ० १२४) इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि पर्वत, वन, सर आदि जहाँतक आश्रमकी सीमा है, वह सब '*मुनि बास सुहावन*' ही कहलाता है। उसी भावसे यहाँ भी '*जहँ बसै*' कहा है।

२—'*मति अकुंठ*'—भाव कि काककी बुद्धि कुण्ठित रहती है। यथा—'*मूढ़ मंदमति कारन कागा।*' (आ० १। ७) पर भुशुण्डिजीकी मति ऐसी नहीं है, स्वयं श्रीरामजीने उसकी प्रशंसा की है। यथा—'*सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥*' (८५। २) इस तरह '*मति अकुंठ*' उस कथाका बीज है जिसमें प्रभुने प्रसन्न होकर इनको ज्ञान-विज्ञान आदि अनेक मुनिदुर्लभ गुणोंका प्रलोभन दिया था पर ये उस प्रलोभनमें न पड़े। (वि० त्रि०) उस समय उनके विचार ये हैं—'*मन अनुमान करन तब लागेउँ। प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥ भजन हीन सुख कवने काजा।*' (८४। ३—६) ऐसा विचारकर उन्होंने अविरल भक्ति ही माँगी। इसीसे 'मति अकुंठ' कहा। '*भगति अखंडी*' से '*अबिरल भगति बिसुद्ध तब श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥*' (८४) इस वर तथा महर्षि लोमशके '*राम भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥*' (११३। १६) इस वरदानका संकेत कर दिया। वही भाव यहाँ है। '*मति अकुंठ*' होनेसे ही अविरल भक्तिकी प्राप्ति हुई, अतः उसी क्रमसे कहा।

३—'*देखि सैल*........' इति। (क) शैल देखकर मन प्रसन्न हो गया, इस कथनसे सूचित हुआ कि गरुड़जी उस शैलसे एक योजन सीमापर पहुँच गये जहाँतक अविद्या—माया नहीं जाती। यथा—'*जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत। ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥*' (११३) इससे यह भी जनाया कि चार कोससे वह शैल देख पड़ने लगा था। (ख) मनके प्रसन्न होनेके दो कारण हैं। एक तो वह शैल ही रमणीय है, जो देखता है वही प्रसन्न हो जाता है। शंकरजी भी देखकर प्रसन्न हो गये। यथा—'*नील सैल एक सुन्दर भूरी। तासु कनकमय सिखर सुहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥*' (५६। ७-८) दूसरा कारण '*माया मोह सोच सब गयऊ*' है। (ग) '*गयऊ*' से जनाया कि शैल दर्शनके पूर्वतक मोह बना था। माया, मोह, सोच तीनों गये कहकर जनाया कि ये तीनों गरुड़जीमें थे। यथा—'*सुनु खग प्रबल राम कै माया॥ जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।*........*सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥ महामोह उपजा उर तोरे।*' (५९। ४—७) '*खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई।*' (५९। २) '*प्रसन्न मन भयऊ*' कहकर प्रसन्नताका कारण कहा—'*माया मोह सोच सब गयऊ*' पूर्व 'खेदखिन्न' था अब प्रसन्न हुआ।

४ '*करि तड़ाग मज्जन*........' इति। मनकी प्रसन्नता पहिले ही कह दी, अतः स्नान-जलपान करनेका भाव यह है कि सत्संगमें न जाने फिर स्नानका अवसर कब मिले, जहाँ जाय वहाँ अपने नित्यकृत्यसे निपट कर जाय। अथवा, पर्वतपर रुचिर सर देख उसमें स्नान किया, इससे श्रम दूर होगा और मनको अधिक सुख होगा, यथा—'*देख राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा॥*' (आ० ४१), '*मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ।*' (१। १५८) '*गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ।*' पुनः भाव कि तीर्थमें जाकर प्रथम स्नान करनेकी विधि है, यथा—'*पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निर्मल नीरा॥*' (१। १४३। ५) '*करि मज्जन सरजू जल गए भूप दरबार॥*' (१। २०६), '*चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरित बर सिय समेत दोउ भाइ॥*' (२। १३२) इत्यादि। मनुजी, विश्वामित्रजी और श्रीरामजीके सम्बन्धमें यह दिखाया जा चुका है।* '*जलपाना*' —पवित्र जल पीनेसे भी सुख होता

---

* वि० टी० एवं वीरकवि 'करि तड़ाग मज्जन' का कर्ता भुशुण्डिजीको मानते हैं। बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'गरुड़ गये।' जो चिन्तातुर हो उसीका हर्षित होना ठीक है। भुशुण्डिजीका तो घर ही है। बरगद बहुत बड़ा है, देववृक्ष है। वटके नीचे पहुँचते ही सुख हुआ। कथा वहाँसे दूर है 'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरुछायासुख जानै सोई' यहाँ चरितार्थ है। यहाँ द्वितीय विशेषालंकार है।

है। यथा—*'सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ।'* बिना स्नान किये तीर्थको लाँघकर जानेसे तीर्थका अपमान होता है। ☞ पूर्व खेदखिन्न कहा है अब यहाँ उस खेदका दूर होकर मन प्रसन्न होना कहा। यह आश्रमका प्रभाव दिखाया।

५—*'बट तर गएउ……'* इति *'हृदय हरषाना'* मोहादि दूर होनेसे, स्नान-जलपानसे, आगामी सत्संगलाभके स्मरण और आशासे। *'बटतर गएउ'* से जनाया कि इनको शिवजीने कथाका स्थान और समय बतलाया था, यथा—*'मैं जब सब तेहि कहा बुझाई।'* इसीसे ये सीधे वटतले ही गये। कथाका लाभ तुरंत समझकर हृदयमें हर्ष हो रहा है। यदि 'हरषाना' को पूर्ण क्रिया मान लें तो वटतले जानेपर हर्ष होना इससे कहा कि वहाँ श्रोताओंका समाज दूरसे देख पड़ा जैसा कि शिवजीने कहा था—*'सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर।'*

करु०, पं० रा० व० श०—*'बृद्ध बृद्ध बिहंग……'* इति। 'वृद्ध-वृद्ध' से बहुकालीन और बुद्धिके वृद्ध जानो। वृद्ध कई प्रकारके होते हैं—**'वयोवृद्धस्तपोवृद्धो ज्ञानवृद्धस्तथैव च'**, उनमेंसे ये सब ज्ञानवृद्ध हैं। जो ऊपर शिवजीका वचन है कि *'सुनहिं सकल मति बिमल मराला'* वही बात यहाँ 'वृद्ध' से जनायी है। शिववाक्यका यहाँ चरितार्थ है। अर्थात् वृद्धसे सबको रामतत्त्वज्ञ, रामानुरागी इत्यादि जनाया। शरीरवृद्ध इससे नहीं है कि जरा आदि अविद्यामायाके कार्य हैं सो माया वहाँ व्यापती ही नहीं। सबकी नित्य किशोरावस्था जान पड़ती है।

पं० वि० त्रि०—'वक्ता चिरञ्जीवी और श्रोता सब वृद्ध थे। अर्थात् पक्षिसभा होनेपर भी वह सभा बड़ी प्रशस्त थी, क्योंकि **'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः।'** २ *'तहँ आए'* कहनेका भाव यह है कि रामकथाका प्रभाव ही ऐसा है कि काक भी कहने बैठ जाय तो सुननेके लिये बड़े-बड़े हंस आ पहुँचते हैं। ३—*'सुनै राम के चरित……'* का भाव कि श्रीरामजीकी कथा श्रवणामृत है, यह सबको अच्छी लगती है। मुक्त मुमुक्षु विषयी सभीको इससे आनन्द मिलता है। यथा—*'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं॥'* (५३। ५)

कथा अरंभ करइ सोइ चाहा। तेही समय गएउ खगनाहा॥५॥
आवत देखि सकल खगराजा। हरषेउ बायस सहित समाजा॥६॥
अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा॥७॥
करि पूजा समेति अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥८॥

शब्दार्थ—**स्वागत**='अतिथि आदिके पधारनेपर उसका सादर अभिनन्दन करना। अगवानी'—यह अर्थ हिन्दी शब्दसागरमें है पर यह अर्थ यहाँ ठीक नहीं है। स्वागतका अर्थ संस्कृतके चन्द्रकोशमें 'कुशल' मिलता है वही अर्थ यहाँ संगत है।

अर्थ—वह कथा आरम्भ करना ही चाहता था कि उसी समय गरुड़जी वहाँ पहुँचे॥ ५॥ समस्त पक्षियोंके राजाको आते देख, पक्षिसमाजसहित काकभुशुण्डिजी हर्षित हुए॥ ६॥ उन्होंने पक्षिराजका अत्यन्त आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम पूछकर (बैठनेके लिये) सुन्दर आसन दिया॥ ७॥ प्रेमसहित पूजन करके तब काकभुशुण्डिजी मीठे वचन बोले॥ ८॥

नोट—१ (क) *'कथा अरंभ करइ सो चाहा'* से जनाया कि इसके पूर्व दिन रामायण समाप्त हुई थी, आज फिर आदिसे प्रारम्भ होनेको है। गरुड़जी बड़े ही अच्छे मौकेपर पहुँचे नहीं तो बीच कथामें पहुँचनेसे दोनों ओर बड़ा संकोच होता। कथाके बीचमें उनका सत्कार भी न हो सकता था और बीचसे कथा छोड़कर आदिसे कहनेमें अन्य श्रोताओंका अपमान और कथाका भी अनादर होता, कथा खण्डित न छोड़नी चाहिये। बीचसे सुनते तो गरुड़को पश्चात्ताप होता। (ख) *'कथा अरंभ'* से पहुँचनेका समय चौथा प्रहर जनाया। (पं०)। पुनः *'अरंभ करइ चाहा'* से जनाया कि भुशुण्डीजी मङ्गलाचरण कर चुके थे, इसीलिये मानसमूलमें मङ्गलाचरण नहीं है। तीनों घाटोंके वक्ताओंने मङ्गलाचरण किया है, केवल उत्तरघाटके वक्ताका मङ्गलाचरण नहीं लिखते, क्योंकि

वह मुख्य श्रोता गरुड़जीके आनेके पहले ही हो चुका था। (वि० त्रि०) (ग) *'तेही समय'*—भगवत्प्रेरणासे ठीक समयपर पहुँचे। अथवा श्रीशिवजीकी आज्ञासे चले हैं तब समयसे क्यों न पहुँचते। *'गएउ खगनाहा'*—भाव कि राजा हैं, ठीक समयपर पहुँचनेमें ही इनकी शोभा है। (वि० त्रि०)

२ (क) *'आवत देखि सकल'* से जनाया कि सब पक्षिराजको पहचानते थे। पहचाननेका कारण पूर्व कह आये कि वे सब वृद्ध हैं। पुनः, *'आवत'* से जनाया कि अभी कथामण्डपमें पहुँचे नहीं हैं, दूर ही हैं, तभी इनपर दृष्टि पड़ी। (ख) *'हरषेउ बायस'''* इति। हर्षका कारण पहिले चरणमें कह दिया कि ये *'सकल खग राजा'* हैं। *'सेवक सदन स्वामि आगमनू'* समझ हर्ष हुआ। इससे यह भी सूचित कर दिया कि पक्षिराज इसके पूर्व कभी न आये थे आज ही प्रथम-प्रथम आये। दूसरे, ये भगवान्‌के निकटवर्ती परमभक्त हैं। ☞ हर्ष यहाँ दोनों ओरका दिखाया, उधर गरुड़ *'बटतर गएउ हृदय हरषाना'* और इधर *'हरषेउ बायस………।'* (ग) *'सहित समाजा'* इति। यहाँ भुशुण्डीजी तो वायस हैं और श्रोता सब वृद्ध-वृद्ध मराल हैं। *'समाज'* से श्रोतासमाज अभिप्रेत है, नहीं तो चण्डाल पक्षीके समाजमें हंस कैसे आ सकते हैं। राजाके पदार्पणसे श्रोतासमाजका बड़ा उत्कर्ष हुआ, अतः समाज हर्षित हुआ। (वि० त्रि०)।

३ (क) *'अति आदर'* कहकर तब *'स्वागत पूँछि'* कहनेसे *'अति आदर'* से सबका खड़े हो जाना, आगे जाकर लेना एवं और भी इसी प्रकारका आदर जनाया। पुनः, *'अति आदर'* का भाव कि सभीका आदर करना यह तो भक्तका स्वभाव ही है पर इनका *'अति आदर'* किया। पञ्चरात्रमें आज्ञा है कि कोई भी वैष्णव दूसरे वैष्णवको देखे तो साष्टाङ्ग दण्डवत् करे—'**वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणिपतेद्भुवि।**' कवितावलीमें भी कहा है—*'रामके गुलामनिकी रीति-प्रीति सूधी सब, सब सों सनेह सबहीको सनमानिये।'* (७। १६८) (ख) श्रीशिवजीने जो गरुड़जीसे कहा था कि *'तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला'* वही यहाँ चरितार्थ हुआ। देखकर हर्षित होना, व्यासासनसे उठकर स्वागत करना, राजाके योग्य उत्तम आसन देना, पूजा करना इत्यादि सब शील है। यथा—*'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू।………गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥'* (२। २४३) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि शङ्करजीने जो सुशील कहा है उसका भाव यह है कि काक दुःशील हैं। पर ये बड़े सुशील हैं, केवल काग वेष बनाये हुए हैं, *'सदा रहहिं अपनपौ दुराए। सब बिधि कुसल कुबेस बनाए॥'* इनको वर है कि जो रूप चाहें धर सकते हैं—*'काम रूप इच्छा मरन………।'*(११३) पर ये काकशरीर ही बनाये रहते हैं। (ग) श्रोता बनकर आये हैं अतः व्यासासन दिया नहीं जा सकता, अतः *'बरासन'* न कहकर *'सुआसन'* कहा (वि० त्रि०)।

४ (क) *'करि पूजा'* इति। राजाओंकी अर्घ्य-पाद्यसे पूजा ऋषि लोग करते आये हैं। अतः कागजीने भी की। योगवासिष्ठमें कथा है कि भुशुण्डिजीके आश्रमपर वसिष्ठजी गये तो उन्होंने संकल्पके हाथसे वसिष्ठजीकी पूजा की। कहना नहीं होगा, जहाँ सङ्कल्पसे हाथ बनता है, वहाँ पूजा-सामग्रीका भी साङ्कल्पिक होना सिद्ध है (वि० त्रि०)। (ख) *'समेत अनुरागा'* इति। भगवत्-भागवत-पूजा अनुरागसे की जाती है। अनुरागका न होना पूजकके हृदयमें पूज्यके प्रति श्रद्धा तथा प्रेमका अभाव सूचित करता है। अनुरागमें वचन मधुर निकलते ही हैं। अतः अनुराग कहकर *'मधुर बचन बोलेउ'* कहा (प्र० स०)। बिना अनुरागकी पूजा या मधुर वचन व्यर्थ हैं। यथा—'**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥**' (वि० त्रि०) यहाँ भुशुण्डिजीके मन, कर्म और वचन तीनों अनुरागमय दिखाये। *'हरषेउ'* और *'समेत अनुरागा'* से मन; *'अति आदर कीन्हा' 'सुआसन दीन्हा'* और *'करि पूजा'* कर्म; और *'स्वागत पूछि' 'मधुर बचन तब बोलेउ'* यह वचनका अनुराग है।

दो०—नाथ कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयेहु केहि काज॥
सदा कृतारथ रूप तुम्ह कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस॥६३॥

अर्थ—हे नाथ! हे पक्षिराज! आपके दर्शनसे मैं धन्य हूँ। हे प्रभो! आप किस कार्यके लिये आये हैं, उसकी आज्ञा दीजिये मैं अब उसे करूँ। पक्षिराज कोमल वाणी बोले कि आप तो सदा ही कृतार्थरूप हैं कि जिनकी प्रशंसा आदरपूर्वक अपने मुखसे महादेवजीने की है॥ ६३॥

नोट—१ *'कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन'* का भाव कि स्वामी वा राजाका सेवकके घर जाना सेवकका महद्भाग्य सूचित करता है, सेवक स्वामीकी इस कृपासे कृतार्थ होता है, क्योंकि *'सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू॥'* है। तात्पर्य कि आपके आगमनसे मैं धन्य हूँ, मेरे समस्त अमङ्गलका नाश हुआ और मेरा कल्याण हुआ। *'तव दरसन'* के उत्तरमें इसीलिये गरुड़जी कहते हैं कि *'सदा कृतारथ रूप तुम्ह'* अर्थात् हमारे दर्शनसे आप कृतार्थ क्या हो सकते हैं, आप तो स्वयं कृतार्थहीकी मूर्ति हैं, आपको देखकर दूसरे कृतार्थ होते हैं। गरुड़जीने यहाँ भुशुण्डिजीके ही शब्दमें उनका उत्तर दिया। दोहा ४७ देखो। यहाँ चित्रोत्तर और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। २—*'आयसु देहु·········'* यह शिष्टाचार है और भुशुण्डिजीकी सुशीलता है।

वि० त्रि०—१ *'खगराज तव दरसन कृतारथ भएउँ'*—भाव कि (क) कागको खगराजका दर्शन कहाँ सम्भव है। यथा—*'निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह।'* अतः उनके दर्शनसे भुशुण्डिजी अपनेको कृतार्थ मानते हैं। (ख) स्वरकी मधुरता ही मीठापन नहीं है, भावका माधुर्य मीठापन है। गलिताभिमान होनेपर जो विनयके वाक्य प्राणीके मुखसे निकलते हैं उसमें बड़ी मिठास होती है। यह वाक्य भी वैसा ही है।

२ *'प्रभु आएहु केहि काज'*—भाव कि प्रभु तो बुलवा भेजते हैं स्वयं नहीं आते। यथा—*'तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥'* (२। ९। ६), ऐसा कौन कार्य आ पड़ा कि आप स्वयं चले आये। पुनः, भाव कि आप प्रभु हैं, आपका कार्य करना मेरा धर्म है, अतः आज्ञा दीजिये। अथवा आनेपर कार्य पूछना शिष्टता है, यथा—*'केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥'* (१। २०७। ८)

३ *'आयसु देहु·········'* इति। वसिष्ठजीके आगमनपर श्रीरामजीने भी प्रणाम, पूजन आदि करके तब कार्य पूछा और उसके करनेकी आज्ञा माँगी। यथा—*'सादर अरघ देइ······सेवकु लहइ स्वामि सेवकाई।'* (२। ९। ३—८) जैसा स्वामी (श्रीरामजीने) किया वैसा ही उनके सेवक (श्रीभुशुण्डिजीने) किया। इस तरह दिखाया कि जैसा शील स्वामीका है वैसा ही सेवकका।

४ (क) *'सदा कृतारथरूप'*—भाव कि और लोग भी कृतार्थरूप हैं पर सदा नहीं रहते। यथा—*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक परमारथबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* और आपके यहाँ तो एक योजनतक अविद्याकी पहुँच ही नहीं, आपको माया कभी व्यापती नहीं; अतः आप सदा कृतार्थरूप हैं (ख) *'कह मृदु बचन'*—भाव कि भुशुण्डिजी आज्ञा मानते हैं, आज्ञामें मधुरताको बहुत कम स्थान है, पर ये उसके उत्तरमें मृदुवचन कहते हैं।

रा० शं०—*'जेहि कै अस्तुति·········'* इति। *'सदा कृतारथरूप'* का प्रमाण देते हैं कि शंकरजीने श्रीमुखसे स्तुति की। वे महान् ईश हैं, वे भला साधारण जीवकी स्तुति कर सकते हैं? जो स्तुत्य होगा उसीकी स्तुति करेंगे। शंकरजीने कहाँ स्तुति की? *'तहँ रह कागभसुंड सुसीला। रामभगतिपथ परमप्रबीना॥ ग्यानी गुनगृह बहु कालीना। रामकथा सो कहै निरंतर।'* (६२। २-४) स्तुति है।

वि० त्रि०—*'जेहि कै अस्तुति.........'* इति। 'स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।' पदार्थका नामोच्चारण, उसके रूपका वर्णन, उसका कर्मख्यापन तथा दूसरोंके साथ उसके साहचर्य-सादृश्यका वर्णन—यही उस पदार्थकी स्तुति हुई, अतः *'सादर'* स्तुति करते हैं। विषकी स्तुति सादर नहीं हो सकती, आदरके साथ स्तुति अमृतकी ही होगी। शंकरजीके वचन स्तुतिके अङ्ग, यथा—*'उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला॥'* (नाम, रूप), *'राम भगतिरत परमप्रबीना। ग्यानी गुन निधि बहु कालीना'*, *'राम कथा सो कहइ निरंतर'* (कर्मका ख्यापन) और *'सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर'* (बान्धव)।

सुनहु तात जेहि कारन आएउँ। सो सब भएउ दरस तव पाएउँ॥ १॥
देखि परम पावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥ २॥

अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि॥ ३॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवौं प्रभु तोही॥ ४॥

अर्थ—हे तात! सुनिये। जिस कारण मैं आया वह सब (कार्य पूरा) हो गया और आपका दर्शन (भी) पाया॥ १॥ आपका परम पवित्र आश्रम देखकर मेरा मोह और अनेक प्रकारके संशय और भ्रम जाते रहे॥ २॥ हे तात! अब आप मुझे अत्यन्त पवित्र, सदा सुख देनेवाली और दु:खसमूहका नाश करनेवाली श्रीरामजीकी कथा आदरसहित सुनाइये! हे प्रभो! मैं बारम्बार आपसे विनती करता हूँ॥ ३-४॥

नोट—१ *'सुनहु तात………'* इति। (क) स्वागत, कुशल-प्रश्न, पूजन आदि करनेके पश्चात् श्रीभुशुण्डिजीने जिन शब्दोंमें प्रार्थना की वे ये हैं—*'आयसु देहु, प्रभु आयेहु केहि काज।'* गरुड़जीने इन सबका उत्तर दिया। *'सुनहु, तात जेहि कारन आएउँ सो सब भएउ।'* उन्होंने अपना राजा मानकर *'प्रभु'* सम्बोधन किया तो इन्होंने भी परम भागवत जानकर प्यारका सम्बोधन *'तात'* शब्द दिया। *'तात'* शब्दका प्रयोग माता, पिता, गुरु, भाई, पुत्र, बड़े-छोटे सभीके लिये होता है। अत: इस सम्बोधनका निबाह इस समागममें आये हुए सभी सम्बोधनोंमें हो जाता है। (ख) *'जेहि कारन आयेउँ सो सब भएउ'* अर्थात् जिस निमित्त, जिस कार्यके लिये आया था वह पूर्ण हो गया, अत: अब उसके करनेकी आज्ञा देनेकी आवश्यकता न रह गयी। पं० वि० त्रि० जी लिखते हैं कि *'जेहि कारन आयेउँ'* का भाव यह है कि कोई रचनात्मक कार्य नहीं था, आनेका कारण अपनी ही त्रुटि थी। (ग) *'दरस तव पायउँ'*—भुशुण्डीजीने पूजनके पश्चात् बड़े मधुर वचन जो कहे थे—*'नाथ कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन खगराज',* उनमेंसे *'कृतारथ भएउँ मैं'* का उत्तर तो दोहेहीमें आ गया कि *'सदाकृतारथ रूप तुम्ह………',* अब *'तव दरसन खगराज'* का उत्तर दिया कि *'दरस तव पायउँ'* अर्थात् मैं दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया। अर्थात् आज हमने जन्मका फल पा लिया, जो कुछ कर्त्तव्य है वह सब कर चुका, अब कुछ करना शेष नहीं रह गया। देखिये, श्रीभरद्वाजजी श्रीभरतजीसे क्या कहते हैं—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।'* (२। २१०)—यह सब भाव इन तीन शब्दोंसे जना दिये। दोनों एक-दूसरेसे अधिक नम्र हो रहे हैं।

वि० त्रि०—परस्पर विनयसे दोनोंको सुख होता है। जैसे *'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥'* (२। १०८)

नोट—२ *'देखि परम पावन………'* इति। (क) *'सो सब भएउ'* कहकर अब बताते हैं कि वह कार्य क्या था और वह कैसे तथा कब पूरा हो गया। (ख) *'देखि'* का भाव कि आपके दर्शनकी नौबत नहीं आयी, वह कार्य पहले ही हो गया (रा० शं० श०)। *'परम पावन तव आश्रम'* का भाव कि देश और कालकी महिमा है। परम पुनीत आश्रम परम रम्य होता है, वहाँके दृश्यसे भी भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग होता है, चित्तके विक्षेप दूर होते हैं। यथा *'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥ निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥ सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी॥ सहज बिमल मन लागि समाधी॥'* (१। १२५) अत: परम पावन आश्रमके देखनेसे मोहादिका जाना कहते हैं (वि० त्रि०)। *'परम पावन'* अर्थात् यह स्वयं पवित्र है और दर्शनसे दूसरोंको भी पवित्र करता है। (ग) *'गएउ मोह संसय नाना भ्रम'*—ये ही तीनों श्रीपार्वतीजीने अपनेमें कहे हैं। यथा *'हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।'* (१। १०८। ४) *'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।', 'अजहूँ कछु संसय मन मोरे।'* (१। १०९) इसीपर श्रीशिवजीने कहा है *'रामकृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥'* (१। ११२) तीनोंके भेद *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'* (१। ३१। ४) में देखिये। गरुड़जीने इन तीनोंका अपनेमें, यहाँ आनेके पूर्व, होनेका कारण और उनकी निवृत्ति आगे भी प्रसङ्ग पाकर कही है यथा—*'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥ सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।—जो नहि होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही॥'* (६९। १—४) (घ) *'देखि………भ्रम'* यथा—*'देखि सैल प्रसन्न मन भएऊ। माया मोह सोच सब गएऊ॥'* (६३। २) वहाँके *'सोच सब'* में नाना संशय-भ्रम सबका समावेश जनाया।

'बार बार बिनवौं प्रभु तोही' से कथामें अति श्रद्धा दिखायी; क्योंकि श्रद्धाहीनसे कथा न कहनी चाहिये (पार्वतीजीने भी बारम्बार प्रार्थना की थी)।

खर्रा—*'अब श्रीरामकथा.........'* इति। शिवजीकी आज्ञा है कि *'जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी।'* इससे *'होइहि मोहजनित दुख दूरी'*, अतएव आज्ञानुकूल ही श्रीरामकथा पूछते हैं।

पं० रा० व० श०—*'अब श्रीरामकथा अतिपावनि.........।'* भाव कि जप-तपादि बड़े-बड़े साधन हैं, पर मनुष्य आत्मशुद्धिको उस समयतक प्राप्त नहीं होता जबतक वह भगवत्-चरित न सुने।

नोट—३ (क) मोह, संशय दूर होनेपर कथामें प्रेम होता है, यथा—*'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥'* (१। १०९। ७) अत: *'गएउ मोह संसय नाना भ्रम'* कहकर तब *'अब श्रीरामकथा.........'* इत्यादि कहा। *'श्रीराम'* से रघुपति राम सूचित किया। यथा—*'लाग कहइ रघुपति गुनगाहा।'* (प्र० सं०) भगवान्‌के अङ्ग-पूजनमें 'राम' से परशुराम और 'श्रीराम' से दाशरथी रामका ग्रहण है। यथा—'**मत्स्याय नमः, पादौ पूजयामि। कूर्माय नमः, गुल्फौ पूजयामि। वाराहाय नमः, जानुनी पूजयामि। नारसिंहाय नमः, ऊरू पूजयामि॥ वामनाय नमः, कटि पूजयामि। रामाय नमः, उदरं पूजयामि। श्रीरामाय नमः, हृदयं पूजयामि।**' इत्यादि (वि० त्रि०)। (ख) *'अति पावनि'*-भाव कि इसके समान पावनकर्ता कोई दूसरा साधन नहीं है (पं० रा० व० श०)। सभी अवतारोंकी कथाएँ पावनी हैं, पर श्रीरामावतारकी कथा अति पावनी है। (ग) *'सदा सुखद'*, यथा—*'रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥'* (१। ३२) *'सुखद'* से श्रवण और मन दोनोंको सुख देनेवाली जनाया। यथा—*'श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।'* (५३। ४) *'सदा सुखद'* कहकर जनाया कि कथा अमृतरूप है, इसीसे सदा सुख देनेवाली है, इससे भी कभी अघाता नहीं; यथा—*'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहि अघात मति धीर॥'* (५२) *'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं।'* (५३। ५) पुन: *'सदा सुखद'* का भाव कि इसे सुननेसे फिर मोहादि नहीं होते। यह भी जनाया कि कथासे सुख न हो तो समझना चाहिये कि हमने कथा नहीं सुनी।

वि० त्रि०—(क) इस कथासे अनिर्वाच्य विश्राम मिलता है। यथा *'एहि बिधि कहत रामगुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥'* अत: *'सदा सुखद'* कहा। (ख) *'दुखपुंज नसावनि'* भाव कि कितने ही दु:ख हों, कथा प्रारम्भ होते ही दूर हो जाते हैं। देखिये, श्रीसीताजी कितनी दु:खी थीं। हनुमान्‌जी कहते हैं कि *'सीता कर अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भल दीन दयाला॥'*, ऐसा दु:ख भी तुरंत दूर हो गया। यथा—*'रामचंद्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥'*

रा० शं० श०—*'आयसु होइ सो करउँ'* के उत्तरमें *'अब श्रीराम कथा अति पावनि। सादर तात सुनावहु'* कहा। साथ ही कथाका महत्त्व भी कहा कि वह *'अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि'* है।

नोट—४ (क) *'सादर तात....'* *'बिनवौं प्रभु....'* इति। तातसे आचार्य-पद नहीं सूचित होता अत: फिर *'प्रभु'* सम्बोधन किया। यह नीचानुसन्धान जिज्ञासुका धर्म है। तातसे प्रियत्व और प्रभुसे स्वामिभाव दरसाया (प्र० सं०)। आदरके साथ सुनानेमें *'तात'* और बार-बार विनती करनेमें *'प्रभु'* सम्बोधन कहते हैं। (वि० त्रि०)

वि० त्रि०—*'सादर मोहि सुनावहु'* इति। भाव यह कि यह न खयाल करो कि इन्होंने सुना ही होगा। अत: इनसे कहना '**पिष्टस्य पेषणम्**' है; पर यह बात नहीं है, मैंने सब कथा नहीं सुनी है। आजकल जैसा ज्ञान-भक्तिका उपदेश खुले खजाने दिया जाता है वैसे पहले नहीं दिया जाता था। पहिलेके लोगोंको थोड़ा ही उपदेश बहुत होता था, क्योंकि वे लोग तदनुसार आचरण करते थे। इस कालमें आचरण करनेवाले बहुत कम हैं। अत: महात्मा लोग कृपा करके गुप्त रहस्योंका बारम्बार उपदेश करते हैं, और न हो तो बार-बार सुनते-सुनते कुछ भावनामें ही परिवर्तन हो जाय तो भी कल्याण हो। इस रामचरितमानसकी ही रचना करके शिवजीने अपने हृदयमें ही रख छोड़ा, किसीसे कहा नहीं—*'पाइ सुसमय सिवा सन भाषा।'* लोग बिना पात्र पाये कभी कहते ही न थे। यथा—*'यह न कहिअ सठही हठसीलहि।* १२८। ३.........' इत्यादि। गरुड़जी

डर रहे हैं कि मुझे अनधिकारी समझकर कहीं उतनी ही कथा न कहें जितनी कि ऐसे लोगोंसे कही जाती है; अतः रहस्यसहित कहनेके लिये *'सादर मोहि सुनावहु'* कहते हैं।

'बार बार बिनवौं तोही' से अपनेको आर्त अधिकारी सूचित कर रहे हैं, जिनसे रहस्य भी बतलाया जाता है। यथा *'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥'* ६४ (१) में 'द्वितीय प्रहर्षण' और 'प्रथम उल्लास' अलङ्कार है।

सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता॥५॥
भएउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुन गाहा॥६॥

अर्थ—गरुड़जीकी बहुत नम्र, सरल, सुन्दर एवं अत्यन्त प्रेमयुक्त, सुख देनेवाली और अतिशय पवित्र वाणी सुनते ही भुशुण्डिजीके मनमें अत्यन्त उत्साह हुआ और वे रघुनाथजीके गुणोंकी कथा कहने लगे॥ ५-६॥

नोट—१ वस्तुतः सभी वाणी विनीत, सरल इत्यादि है, पर महानुभावोंने पृथक्-पृथक् सबको दिखानेकी चेष्टा की है। अतः, पृथक् भी दिखाते हैं।—वि० त्रि०।

१ विनीत	**'सदा कृतारथ रूप तुम्ह......' 'बार बार बिनवउँ प्रभु तोही'**	**सदा कृतारथ.........कीन्ह महेस**
२ सरल	**'जेहिकै अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस'**	**सुनहु तात.........तव पाएउँ**
३ सुप्रेम	**'सुनहु तात' 'सादर तात सुनावहु..........'**	**देखि परम पावन.........श्रम**
४ सुखद	**'अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद..........'**	
५ सुपुनीत	**'देखि परम पावन तव आश्रम..........'**	**'सादर तात सुनावहु..........'**

पं०—स्वामि-सेवक-भावसूचक होनेसे विनीत, संदेह सच-सच कह देनेसे सरल, कथामें श्रद्धा-रुचि होनेसे सुप्रेम, विनीत होनेसे सुखद और रामगुणानुवादकी द्योतक होनेसे सुपुनीत कहा।

पं० रा० व० श०—१ *'सरल'* इति।—हृदयका जैसा बर्ताव है वैसा ही कहना, कपट-बनावटसे रहित जो कहा जाय वह *'सरल'* कहलाता है। २—प्रेम और भगवद्रसभरे होनेसे सुखद और सुपुनीत कहा।

वि० त्रि०—गरुड़-भुशुण्डि-संवाद कब हुआ? भुशुण्डिजी कलियुगमें बटतले कथा कहते हैं। कथाके प्रारम्भमें गरुड़जी पहुँचे। अतः निश्चित हुआ कि गरुड़जी कलियुगमें वहाँ गये। अब निर्णय करना है कि किस चतुर्युगीके कलियुगमें गये। वाल्मीकीयके **'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः'** से निश्चय होता है कि श्रीरामावतार वैवस्वत मन्वन्तरके चौबीसवीं चतुर्युगीके त्रेताके अन्तमें हुआ, क्योंकि वैवस्वत मनुके पुत्रका नाम इक्ष्वाकु था। हरिवंशमें भी कहा है **'चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरस्सरः। राज्ञो दशरथस्यायं पुत्रः पद्मायतेक्षणः॥'** श्रीरामजीके ही रणबन्धनमें गरुड़को मोह हुआ। ब्रह्मलोकमें द्वापर बीत गया, जिस भाँति महाराज रेवतको क्षणभर ठहरनेमें युग बीत गया था। अतः गरुड़जी वैवस्वत मन्वन्तरके २४ वीं चतुर्युगीके कलियुगमें कथा सुनने गये थे।

पं० रा० व० श०—*'भएउ परम उछाहा।'* कारण कि ये तो कथा कहनेहीको थे। गरुड़जीके आनेपर समझे थे कि न जाने किस कामसे आये हैं, पहले वह काम कर लें तब कथा प्रारम्भ करें। जब यह जाना कि कथा ही सुननेकी इनकी भी इच्छा है तब उत्साह और भी बढ़ गया। ऐसे गुणविशिष्ट श्रोताओंको पाकर वक्ताको परम उत्साह होता ही है।

[☞ श्रीरामकथा उत्साहसे कहना ही चाहिये, यह कथा कहनेकी रीति है। यथा—*'रघुपति चरित महेस तब हर्षित बरनै लीन्ह।'* (१। १११) *'हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान।'*......*सुनु सुभ कथा भवानि।'* (१। १२०) *'भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू। चली सुभग कबिता-सरिता-सो॥'* (१। ३९)]

वि० त्रि०—*'लाग कहइ रघुपति गुन गाहा'* इति। भाव कि मानसका मूल प्रारम्भ हुआ। मानस मूल=(१) मानसका मूल। (२) मानस है मूल जिसका। इस कथामें दोनों अर्थ लग जाते हैं। मानसका मूल भी यही कथा है, क्योंकि *'बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥'* यही राम-सुयश-वर-वारि मानसमूल है। अतः यह गरुड़-भुशुण्डि-संवाद मानसमूल हुआ। दूसरा भाव

कि शिवजी गरुड़-भुशुण्डि-संवादका ही वर्णन करते हैं, यथा—*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥'*

दूसरी व्युत्पत्ति भी सार्थक होती है कि सातों काण्डरूपी सोपान, ज्ञान-विराग-विचाररूपी हंस नवरस, जप-तप-योगरूपी जलचर आदि तो हृदयमें मानस-सर बननेके समय आ जाते हैं, परन्तु जब कथाका स्रोत बहता है तब संसारमें तो केवल कथामात्र ही फैलती है। ज्ञान-वैराग्यरूप जप, तप, योग, विराग सब मानसमें धरे ही रह जाते हैं। अतः इस भाँति भी यह कथा मानस-मूल हुई।

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥ ७॥
पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन अवतारा॥ ८॥
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई। तब सिसुचरित कहेसि मन लाई॥ ९॥

अर्थ—हे भवानी! पहले तो भुशुण्डिजीने बड़े ही प्रेमसे रामचरितमानससर (का रूपक) विस्तारसे वर्णन किया॥ ७॥ फिर नारदका भारी मोह और उसके पीछे फिर रावणका अवतार कहा॥ ८॥ फिर प्रभुके अवतारकी कथा वर्णन की। तत्पश्चात् मन लगाकर शिशुचरित कहे॥ ९॥

वि० त्रि०—१ (क) ***'प्रथमहिं'*** इति। कारण कार्यका नियतपूर्ववर्ती होता है। अतः स्वाभाविक क्रमसे पहले कारणका निरूपण प्राप्त है। रामचरित-वर्णनका कारण पहले वक्ताके हृदयमें रामचरितका अवस्थान है। यदि वक्ताका ही हृदय रामचरितमें भरपूर न हुआ तो वह वर्णन क्या करेगा। जैसे प्रथम **'हर हिय रामचरित सब आए'** तब उन्होंने उनको कहना आरम्भ किया। यथा—*'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह।'* (१। १११) वैसे ही श्रीभुशुण्डिजी प्रथम यही वर्णन करते हैं कि उनके हृदयमें रामचरित पहले कैसे आया। इस वर्णनसे श्रोता भी उसी भाँति रामचरितको अपने हृदयमें स्थान दे सकेगा। (ख) ***'अति अनुराग'*** इति। पहले राग होता है तब अनुराग। राग=रंग। जिस रंगमें चित्त रँग जाता है उसीमें राग होता है। जब स्वाभाविक ही कठिन चित्त काम, क्रोध, हर्ष, शोक आदिसे पिघल जाता है, उस समय जो भावना होती है वही रंग चित्तमें लाखकी भाँति चढ़ जाता है, फिर कठिन हो जानेपर भी उसे नहीं छोड़ता। एवं जिसका मन रामरंगमें रँग जाता है, उसीका रामजीके प्रति राग होता है। यथा—***'हिय फाटौ फूटौ नयन जरौ सो तन केहि काम। द्रवै स्त्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम॥'*** और जिसका राममें राग होगा उसीका उनके चरितमें अनुराग होगा। भुशुण्डिजीका श्रीरामजीमें अतिराग था, अतः उन्हें श्रीरामचरित-वर्णनमें भी ***'अति अनुराग'*** हुआ। (ग) ***'भवानी'*** इति। पूर्वसंकल्पानुसार शिवजीने भुशुण्डि-गरुड़-संवाद भवानीसे कहना आरम्भ किया। संकल्पके समय भी भवानी सम्बोधन दिया था, यथा—***'सुनु सुभ कथा भवानि.........।'*** (१। १२०) आदि कथाका आरम्भ भी ***'भवानी'*** शब्दसे ही हुआ था। यथा—***'एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥ संग सती जग जननि भवानी॥'*** अतः यहाँ भी कहनेके समय ***'भवानी'*** सम्बोधन दे रहे हैं। पुनः भाव कि ये जगदम्बा हैं, इन्होंने जगत्-हितके लिये प्रश्न किया है। भवानीका अर्थ ही जगदम्बा होता है। यथा—*'जगदंबा तव सुता भवानी।'* अतः भवानी सम्बोधन दिया।

'रामचरितसर कहेसि बखानी'

पं० रा० व० श०—१ ***'रामचरितसर'*** जैसा कि गोस्वामीजीने कहा है वैसे ही रामचरितको सरके रूपकसे कहा। क्योंकि यह मानससरसे निकला है। इस पदसे जनाया कि यह चरित सबसे विलक्षण है। शिवजीने मानसमें रचकर रखा और बहुत काल मनमें भरे रहे।—[इसे शिवजी पार्वतीजीसे कह चुके हैं, यथा—***'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'*** सरका रूपक जो गोस्वामीजीने बाँधा है वह ***'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।'*** (१। ३६। ३) से ***'जो नहाइ चह एहि सर भाई।'*** (१। ३९। ७ तक है।)]।

वै०—***'रामचरितसर कहेसि बखानी'*** अर्थात् 'मानससरके सर्वाङ्ग उपमान देकर श्रीरामचरितमानसके सर्वाङ्ग उपमेय करि वर्णन किये। घाटादिक सब वर्णन किये।' शिशुचरित ***'मन लाई'*** कहा क्योंकि इष्ट है।

खर्रा—रामचरितसरको बखानकर कहा अर्थात् *'रामचरित मानस नामा'* ग्रन्थको पूर्ववत् उत्थान वर्णन किया। वा, रामचरितको मानसर और सरयूके क्रमसो सङ्गति-कथन किया। यहाँ स्वकीयकृत ग्रन्थ सूचित किया।

गौड़जी—गोस्वामीजीने व्याजसे यहाँपर भगवान् शङ्कररचित रामचरितमानसकी संक्षिप्त विषय-सूची दी है। जिस सरसरि-रूपकका वर्णन गोस्वामीजीने अपनी भूमिकामें किया है वह शङ्कररचित रामचरितमानसकी भूमिका है। रामचरितका सररूपक मूलरूपमें शङ्करजीका है। गोस्वामीजीने उसका विस्तार करके उसे साङ्गोपाङ्गरूपक कर दिया है। मजमून असली भगवान् शङ्करका है, उसका विस्तार गोस्वामीजीका अपना है। उन्होंने इस बातको छिपाया नहीं है, साफ कहा है—*'रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥ मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥ रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥ तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥ कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥ जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु। अब सोइ कहउँ प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु॥'* (१। ३५), *संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥'*

यहाँ यह भाव स्पष्ट है कि रामचरितमानसकी रचना भगवान् शङ्करने अपने मनमें कर रखी थी और इस रचनाका नाम बड़ी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् शङ्करने रामचरितमानस रखा। मानससे अभिप्राय मानससर था। सरका यह रूपक भगवान् शङ्करका ही है, जिसका निर्देश मानसकारने नामनिर्देशमें यों किया है-मनरूपी मत्त निरंकुश काला गजराज विषयोंके भयानक वनमें निर्भय विचरता था। विषयके आत्यन्तिक संघर्षसे वनमें आग लग गयी, वह छटपटाता सारे वनमें शान्तिके लिये दौड़ता है, कहीं सौभाग्यसे रामचरितमानसरूपी सरोवर मिल जाय तो वासनाओंकी भयानक आँचसे उसे शीतलता मिले और वह सुखी हो जाय। इस छोटेसे रूपकको जब मानसकारने अपनाया तो शिवजीकी कृपासे ही उसे अपनी मतिके अनुसार साङ्गोपाङ्ग मनोहर बनाया। रूपक मूल रामचरितमानसका है, विस्तार गोस्वामीजीका। चारों संवादके चार घाट गोस्वामीजीके हैं। जैसे कोई तालाब खोदवाकर चारों ओर घाट न बनवाकर एक ही ओर सात सीढ़ियाँ रखे, उसी तरह भगवान् शङ्करने सात सोपान रखे। घाटोंकी रचना बहुत बादकी है। गोस्वामीजीने चारों घाट बाँधे हैं, इसलिये सरसरिरूप समाप्त होते ही भरद्वाज-घाटपर उतर आये हैं। इस घाटपर शिवचरित है यह गोस्वामीजीकी रचना है। इस घाटपर स्नान करके तब पाठकको शङ्कर-घाटपर जाना होता है, यह सबसे प्राचीन घाट है। रामराज्यतक इसीपर मानसकी रचना है। काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद तीसरा घाट है। इस प्रकार गोस्वामीजीने अपने भाषा-प्रबन्धकी जो भूमिका की है वह ३२ वें दोहेपर ही समाप्त हो गयी है—**'कीन्ह प्रश्न'** से लेकर **'नसाहिं काम मद दंभा'** तक इस कथा-प्रबन्धका 'अर्थ' है। रामचरितमानसके नामसे इस कथाका आरम्भ है। जैसे कोई कहे **'अथ रामचरितमानसो लिख्यते'** उसी तरह **'रामचरितमानस एहि नामा'** यह कहा है। यह बात तो आरम्भमें स्पष्ट कर दी गयी है। तो भी इसलिये कि शायद किसीको धोखा हो कि कथा तो *'सुनु सुभ कथा भवानि'* से आरम्भ हुई है, फिर रामचरितसर उसका कोई अङ्ग नहीं है, यहाँ भुशुण्डिके द्वारा आरम्भ करनेमें रामचरितसरसे ही आरम्भ करते हैं और यह सूचित कर देते हैं कि सरका रूपक भगवान् शङ्करकी ही रचना है। सरका रूपक विस्तारसे पहले ही कहा जा चुका था, इसलिये कथोपकथनमें नहीं लाया गया। कथाका ढंग सदासे ही प्रश्नोत्तरका ही रहा है। परंतु जब मानसकी रचना पहले ही हो चुकी तो उसका रूप कथोपकथनका नहीं हो सकता। तो उसका मूल रूप क्या था? इस प्रश्नका उत्तर भुशुण्डिजीकी कथाके व्याजसे मिल जाता है। अर्थात् भगवान् शङ्करने रामचरितमानसका पहले सरोवररूपक बाँधा था और उसमें सातों सोपानोंका विभाग दिखाकर रावण और रामावतारके कारणोंका उल्लेख करके रावण और रामावतारकी कथाएँ दी गयी हैं।

'पुनि नारद कर मोह अपारा' में यह शङ्का की जाती है कि रामचरितमानसमें तो चार अवतारोंकी कथाएँ हैं और विशेष विस्तारसे परात्पर परब्रह्मके अवतारकी कथा है और शिवजीने स्वयं कहा है कि

मैंने वही कथा कही है जो भुशुण्डिने गरुड़से कही थी, परंतु यहाँ 'नारदमोह' कहकर केवल श्रीमन्नारायणावतारकी सूचना दी जाती है! यह कथन-वैपरीत्य कैसा? विचार करनेसे इसमें कोई वैपरीत्य नहीं दीखता। रावण और रामके चारों अवतारोंकी कारणीभूत कथाएँ पाँच कही गयी हैं। उनका क्रम यह है—(१ जय-विजय), (२ जलन्धर), (३ नारदमोह), (४ मनु-शतरूपा), (५ प्रतापभानु)। इन पाँचोंमें नारदमोह मध्य कथा है। मध्य कथाकी चर्चा करके पाँच कथाओंका निर्देश कर दिया है। यह आवश्यक नहीं है कि सब कथाओंका उल्लेख किया जाय *'ऋषि आगमन'* कहकर *'रघुबीर बिबाह'* कहनेसे मखरक्षा, राक्षसवध, अहल्योद्धार, जनकपुर-गमन, फुलवारी, धनुषयज्ञ और परशुरामदर्पदलन सभी कथाओंका सन्निवेश हो गया। 'पुरवासियोंके विरह-विषाद और रामलक्ष्मणसंवादसे' राम-दशरथ, राम-कौशल्या, राम-सीता, लक्ष्मण-सुमित्रा आदि अनेक संवादोंका समावेश हो जाता है। हाँला कि रामलक्ष्मण-संवाद आदि या अन्तकी घटना नहीं है, यह भी मध्यकी घटना है। सुमन्तका पहुँचाना, निषादका प्रेम, वसिष्ठजीकी सभा, चित्रकूटकी अनेक सभाएँ, राजा जनकका प्रसङ्ग, अयोध्याके चरितोंमें नहीं गिनाया है। परंतु इससे यह न समझना होगा कि ये कथाएँ कही नहीं गयी हैं। रामेश्वरकी स्थापना बड़े महत्त्वकी घटना है, यह चर्चा न होनेसे यह समझना मूर्खता होगी कि भुशुण्डिने शम्भु-स्थापनाकी कथा नहीं कही। निदान इस छोटी-सी-सूचीमें न कोई विस्तारकी खोज करता है और न किसी कथाके इस सूचीमें न होनेसे किसीको यह समझना चाहिये कि भुशुण्डिजीकी कही हुई कथामें यह विषय छूट गये हैं।

नोट—रामचरितसर और रामचरितमानस दो पृथक्-पृथक् वस्तु हैं, पर 'सर' भी मानसका एक अङ्ग है। ये दोनों बातें मानसके वाक्योंसे सिद्ध होती हैं। 'रामचरितसर' क्या और कहाँसे कहाँतक है इसमें मतभेद है। मत नीचे दिये जाते हैं—

प्रारम्भ	समाप्ति
१ **'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा'** बा० ३५ (६)	**'फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी'**
२ **'रामचरितमानस एहि नामा'** बा० ३५ (७)	(बा० ४३ (८)
३ **'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ। सुमिरि भवानी संकरहिं कह कबि कथा सुहाइ'**	**'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल'** बा० १२०
४ ,, बा० ४३	**'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी..........।'**
५ **रचि महेस निज मानस राखा** [बा० ३५ (११)]	**'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी..........'**
६ **'हरिगुन नाम अपार..........'** बा० १२०	,, बा० १२४ (४)
७ **'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा'** बा० ११६	**'राम सो परमातमा..........'** बा० १२०

८ **'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥ ताते रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर'**-यह सब रा० प्र०

९ **'रामकृपा ते पार्वति'** बा० ११२	**'ज्ञान बिराग सकल..........'** बा० ११९ (६)

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'जब शिवचरित समाप्त हुआ—*'संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥'* (१।१०४।१) तब उसके बाद रामकथाका प्रारम्भ है जो शिवपार्वतीके संवादरूपमें है—*'बिश्वनाथ मम नाथ पुरारी।'.......।'* (१।१०७।७) इसी शिव-पार्वती-संवादमें प्रथम रामचरितसर है। क्योंकि यहींसे रामकथा प्रारम्भ कहलाता है और रामकी कथाके वर्णनमें प्रथम रामचरितसर कहा गया है। अतः पार्वती-संवादमें प्रथम रमचरितसर है जिसमें पार्वतीका यह प्रश्न है—*'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥'* (१।१०८।५) वे राम अवधनृपतिसुत हैं? जो नृपसुत हैं तो ब्रह्म किमि? पुनः *'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* राम *सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥'* *'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि। देखि चरित महिमा सुमन भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥'* पुनः*'जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥'*—इन प्रश्नोंका उत्तर जो शिवजीने

दिया है वही रामचरितसर है जो *'मगन ध्यान रस दण्ड जुग………'* (१। १११) से प्रारम्भ हुआ है और *'पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि………'*(१। ११९) पर समाप्त हुआ। जिसको सुनकर पार्वतीने कहा है कि *'रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ।'* शिवजीने उत्तर पाँच *'सोई'* करके जो दिया है वही रामचरितसर है।

कुछ महानुभावोंका कहना है कि 'सर' और 'मानस' दो माननेपर हमें देखना होगा कि 'सर' कहाँसे कहाँतक है। इसके लिये बालकाण्डके श्रीउमा-महेश्वर-संवादकी छानबीन करनी होगी।

बा० १०७ (७) *'बिश्वनाथ मम नाथ पुरारी'* से यह संवाद प्रारम्भ होता है और १११ (५) पर पार्वतीजीके प्रथम प्रश्नोंकी समाप्ति होती है। वे प्रश्न करती हैं कि—राम कौन हैं कि जिनको आप जपते हैं और जिन्हें मुनि अनादिब्रह्म कहते हैं? ये वही अवधनृपतिसुत हैं या अन्य कोई हैं? दूसरा प्रश्न है कि निर्गुण किस कारण सगुण होता है? फिर रामावतार और रामचरितके प्रश्न हैं और अन्तमें यह प्रार्थना है कि जो मैंने न पूछा हो (पर जाननेकी बात हो) वह भी छिपा न रखियेगा। इसके बाद शिवजी अपने इष्टदेव बालरूप रामका स्मरण और प्रणाम कर प्रथम उनकी प्रशंसा करते हैं—दोहा १११ (६) से ११४ (६) तक। फिर उनपर डाँट-फटकार है—*'एक बात नहिं मोहिं सुहानी'* ११४ (७) से ११५ के ऊपरतक। फिर दोहा ११५ में वे श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं कि हमारे *'भ्रम तम रविकर बचन'* सुनो। रामचरितसर या रामचरितमानस या रामकथा (या ऐसे कोई पर्याय शब्द) सुननेको नहीं कहते। ये भ्रमभंजन वचन ११६ (१) निर्गुण-सगुणके अभेदसे *'ग्यान बिराग सकल गुन जाही'* ११९ (६) तक है। इन्हींमें रामजीका स्वरूप भी प्रतिपादित किया है और पार्वतीजीपर फटकार भी है। इस स्थानपर जो बातें कही गयी हैं वे प्रायः सब भुशुण्डिजीने कथाके बाद रामपरत्ववर्णनमें तथा मोह-प्रसङ्गमें कही हैं।—इन वचनोंसे पार्वतीजीका मोह दूर हुआ और उनको रामस्वरूप जान पड़ा।—*'रामसरूप जानि मोहि परेऊ।'* इसके बाद पार्वतीजी प्रश्न करती हैं कि—वे चिन्मय अविनाशी सर्वरहित सर्वउरवासी प्रभु रामने किसलिये नरतन धारण किया। १। १२० (६-७) से *'हिय हरषे कामारि………'* तक।

यहाँतक कहीं बीचमें भुशुण्डि-गरुड़-संवादका नाम भी नहीं पाया जाता, किन्तु इनके बाद ही इनका नाम आता है—*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥'* अतएव यह निर्वाद सिद्ध है कि भुशुण्डि-गरुड़संवादमें जो कुछ भुशुण्डिजीने कहा है वह इसके पहले नहीं हो सकता, वरन् इसके आगे ही है। अर्थात् रामचरितसर और कथाका प्रसङ्ग *'सुनु सुभ कथा भवानि'* से प्रारम्भ होता है, पहले नहीं। और दोनों (उमा-महेश्वर) के संवादकी इति *'सुनि सब कथा हृदय अति भाई'* उत्तरकाण्डकी इस चौपाई उ० १२९ (७) पर होती है। नारदमोहप्रसङ्ग *'नारद साप दीन्ह एक बारा'* से प्रारम्भ होता है। अतएव 'सर' बा० १२० से बा० १२४ (३) *'एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा॥'* तकमें ही है और स्वरूपका वर्णन जो इसके पूर्व है वह गरुड़से कहा हुआ रामचरितसर नहीं हो सकता।

ऊपर जो मत १-६ लोगोंके लिखे गये, वे वचन श्रीशिवजीके पार्वती-प्रति नहीं हैं और 'रामचरितसर' का श्रीशिव-पार्वतीसंवादान्तर्गत होना श्रीशिवजीके *'कथा समस्त भुसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कहा भवानी॥'* इन वचनोंसे स्पष्ट है।

कुछ लोगोंका कहना है कि गोस्वामीजीने 'रामचरितसर' शब्दका प्रयोग अपने वन्दना-प्रकरण वा भूमिकामें भी किया है, यथा—*'रामचरितसर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥'* तथा और भी स्थलोंमें मानसको सर कहा है—

'रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा॥
मन करि अनल बिषय बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥' बा० ३५॥
'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ॥' बा० ३९॥
और **'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥**
तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥' बा० ३४॥

ये उद्धरण भी इस पक्षका पोषण करते जान पड़ते हैं। इनसे यही आशय निकलता है कि रामचरितमानस सब-का-सब शिवकृत है, सब गुप्त रहा है और मानस एवं सर दोनों पर्याय हैं। वीरकवि, वि० टी०, पंजाबीजी, करु० और रा० प्र० का मत इसी पक्षकी ओर है। इन्होंने *'सर'* का अर्थ 'मानस' ही किया है।

पर इसके उत्तरमें दूसरे कहते हैं कि यदि रामचरितसरको यथार्थ ही मान लें तो भुशुण्डिजीके ***'प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥ पुनि नारद........'*** को क्योंकर समझायेंगे? इससे तो *'सर'* कथासे पृथक् स्पष्ट है।

और कुछ लोगोंका मत है कि—'शिवजीके वचनका अर्थ यह लगाना चाहिये कि नारद-मोहसे लेकर सब रामचरित जो हमने तुमसे कहा वही भुशुण्डिने गरुड़से कहा' 'कथा समस्त' से केवल चरित्र लेना चाहिये और *'सर'* शिवजीने कहा ही नहीं, इसलिये उसको यहाँ नहीं कहते। वह सर मानसकविने सज्जनों, अपने श्रोताओंसे कहा ही है, वही सर भुशुण्डिजीने कहा है। यह बहस बहुत अच्छी और दृढ़ जान पड़ती है। पर इसके उत्तरमें दूसरे पक्षवाले कह सकते हैं कि यदि पार्वतीजीसे शिवजीने न कहा होता तो क्या वे चुप रहतीं, और न पूछतीं कि वह रामचरितसर कौन है जो भुशुण्डिजीने बखानकर कहा था, मुझे भी सुनाइये?

☞इस तरह रामायणियोंमें बड़ा विवाद है। *'सर'* का अर्थ है 'तालाब' और इस अर्थमें ग्रन्थकारने इसको तमाम स्थलोंमें प्रयुक्त भी किया है। अतः सम्पादक पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी, बैजनाथजी और गौड़जीसे इसमें सहमत हैं।

वि० त्रि०—हृदयमें आये हुए रामचरितकी तालाबसे उपमा दी जाती है। क्योंकि जिस भाँति तालाब मेघमुखच्युत जलको चारों ओरसे समेटकर अपनेमें भर लेता है, उसी भाँति शुश्रूषुके हृदय भी साधुमुखच्युत रामचरितको अपने हृदयमें एकत्रित कर लेते हैं। यथा—***'सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदुण सज्जन पहँ आवा॥'*** श्रीभुशुण्डिजीने भी अपने हृदय-सरको इसी तरह भरा। यथा—***'सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा। अब्याहत गति संभु प्रसादा॥'*** और उसकी पूर्ति लोमश ऋषिद्वारा हुई। यथा—***'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥'*** श्रीगोस्वामीजीकी रीति है कि पाठकके मनमें बैठानेके लिये कथाको व्यास (विस्तृत) और समास (संक्षिप्त) दोनों रीतिसे वर्णन करते हैं। सो व्याससे वर्णन मानस-प्रसङ्गमें हुआ है। उसी बातको यहाँ समासमें कह रहे हैं।

वि० त्रि०—***'कहेसि बखानी'*** इति। रामचरितकी ऐसी महिमा है कि उसे मनमें भर लेनेसे श्रोताका हृदय स्वयं रामायणरूप हो जाता है। उसे रामजीके गुणोंपर पक्षपात और निशाचरोंके दुर्गुणोंपर अनायासेन द्वेष हो जाता है, फिर तो उसके हृदयमें एक-एक भाव रामचरितके पात्र हो जाते हैं। राम-रावणका संग्राम छिड़ जाता है और रामचरित मनन करते-ही-करते उसके हृदयमें रामराज्य स्थापित हो जाता है। श्रीगोस्वामीजीने विनय पद ५८ ***'देहि अवलंब करकमल..........'*** में इसका बड़ा रोचक वर्णन किया है। इस भाँति जब हृदयमें रामराज्य स्थापित हो जाता है, तब आनन्दके उछाहमें प्रेम-प्रमोदका प्रवाह बह उठता है, वह प्रवाह कथा-सरित् है।

प० प० प्र०—कागभुशुण्डि-संवादको निमित्त बनाकर कविकुल-गुरु चूड़ामणिने यहाँ श्रीशिवजी-विरचित रामचरितमानसकी सूक्ष्म अनुक्रमणिका ही दे दी है। प्रत्येक काण्डमें किसी-न-किसी निमित्तसे रामचरित्रकी कुछ-न-कुछ अनुक्रमणिका यत्र-तत्र भी लिखी है। इसका कारण यह है कि ***'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥'*** हैं। प्रत्येक सोपान एक पृथक् पंथ (मार्ग) है। केवल एक ही मार्गका अनुसरण करनेसे यह पथिक रामभक्ति स्थानमें सुलभतासे पहुँच सकता है। विशेष १२९ (३) में देखिये।

वि० त्रि०—***'पुनि नारद कर मोह अपारा'*** इति। (क) पुनि अर्थात् रामचरितसर-निरूपणके पश्चात्! (ख) ***'नारद'*** भाव कि जिनकी गणना शिव-विरंचि सनकादिककी श्रेणीमें है, जो आत्मवेदी मुनिनायक हैं, जिनको इन्द्रपद सूखी हड्डी-सी मालूम होती है। जो नामप्रतापसे हरिहरके प्रिय हैं, जिनकी हरि सदा